न्याय-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेदों के भाष्यकार, गायत्री महाविद्या के
विशेषज्ञ तथा लगभग १५०
ग्रन्थों के रचयिता

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान, बरेली

(उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान, बरेली
(उत्तर-प्रदेश)

★

सम्पादक :

पं० श्रीराम आचार्य

★

प्रथम संस्करण
१९६४

★

मुद्रक :
जगदीश प्रसाद भरतिया
बम्बई भूषण प्रेस,
मथुरा

★

मूल्य
४ रुपया

भूमिका

संसार में प्रत्येक प्राणी सुख की खोज में प्रयत्न कर रहा है। छोटा-बड़ा, अज्ञानी ज्ञानी प्रत्येक व्यक्ति सदैव इसी चेष्टा में लगा रहता है कि उसे किसी प्रकार की असुविधा, दुःख सहन न करना पड़े और उसकी सब आवश्यकताओं, अभिलाषाओं की पूर्ति होकर वह सुख, चैन का जीवन व्यतीत कर सके। पर परिणाम सदैव इसके विपरीत ही दिखाई देता है। संसार में ऐसे मनुष्य इने-गिने ही मिलेंगे जो अपने को सुखी कह सकें। साधारण लोगों की बात तो छोड़ दीजिये जिनको रोटी, कपड़ा तथा अन्य जीवन-निर्वाह की वस्तुयें भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं, तथा जो नौकरी, मजदूरी, रोजगार की तलाश में ही प्रायः इधर-उधर फिरते रहते हैं, पर मध्यम और उच्च श्रेणी के कहलाने वाले भी, जिनको भरपेट उत्तम भोजन, बढ़िया कपड़े और मनोरंजन के सुख-साधन प्राप्त हैं, अपने को पूरा सुखी नहीं समझते हैं। बातचीत में वे प्रायः तरह-तरह के अभावों तथा कठिनाइयों का ही जिक्र करते पाये जायेंगे। कितने ही 'बडे' माने जाने वाले लोगों का जीवन तो जाहिरा ठाठ-बाठ और सुख-वैभव के होते हुये भी इतना दुःखपूर्ण और आपत्तियों से घिरा होता है कि वे जीवन से मृत्यु को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। संसार में ऐसे लोगों की शोचनीय अवस्था सबको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ जाती है।

इस विपरीत अवस्था का क्या कारण है? मनुष्य सुख की अभिलाषा, प्रयत्न करते हुये भी दुःख, कष्ट, अभाव में क्यों ग्रसित हो जाता है? संसार के भौतिकवादी, जिनमें आजकल के बड़े-बड़े जगत प्रसिद्ध विदेशी विद्वानों की गणना भी की जा सकती है, तो इस समस्या का

कोई हल कर नहीं पाये। वे तो इसका एक ही उपाय बतलाते हैं कि मनुष्य को और अधिक प्रयत्न, उद्योग करना चाहिये और सुख-साधनों को बढ़ाना चाहिये। उनको अपने इस उद्देश्य में सफलता भी हुई है और उनके पास सुख-सामग्री पहले से कई गुनी अधिक बढ़ गई है। पर इसके साथ ही ऐसी-ऐसी विषम समस्यायें भी उत्पन्न होती जाती हैं जिनसे उनको सदा उद्विग्न रहना पड़ता है तथा शान्ति और संतोष की बड़ी कमी दिखलाई पड़ती है।

भारतीय तत्व-दर्शियों ने इस समस्या पर दूसरी ही दृष्टि से विचार किया है। उनका मत है कि यह संसार तो अभाव और असुविधाओं से युक्त है। मनुष्य प्रयत्न और उद्योग करके उनको जितना कम कर सके उतना ही ठीक है। अभावों और दुःखों की पूर्ण निवृत्ति तो बहुत बड़ी बात है और कोई बड़ा पुरुषार्थी ही बहुत दीर्घकाल तक प्रयत्न करके उसमें सफल हो सकता है। सच पूछा जाय तो मनुष्य-जन्म का लक्ष्य ही इस प्रकार के दुःखजनक अभावों से यथासंभव छुटकारा पाना है। यहाँ पर सुख की कल्पना अथवा खोज करना तो बुद्धिहीनता का चिह्न ही है। ऐसा व्यक्ति चाहे कुछ समय तक अज्ञान के कारण सुख का झूठ-मूठ अनुभव करता रहे पर अन्त में उसको और भी अधिक दुःखों में फँसना पड़ता है। हाँ, जो व्यक्ति इस संसार को अभाव रूप समझकर क्रमशः उनकी निवृत्ति के लिये चेष्टा करता रहेगा, वह उनके कुप्रभाव से अधिकांश में बचा रह सकता है।

संसार में पाये जाने वाले इन अभावों और दुःखों से मनुष्य का किस प्रकार छुटकारा हो इसके सम्बन्ध में प्राचीन मनीषियों ने कई तरह के मार्ग बतलाये हैं जो प्रत्यक्ष में पृथक और विपरीत दिखाई पड़ने पर भी पात्र और रुचि की दृष्टि से सभी सही हैं। एक आत्मा के स्वरूप को समझने और सभी सांसारिक पदार्थों में आत्म-बुद्धि रखकर परलोक-साधन का उपदेश देता है, दूसरा सबको एक ही परमात्मा का अंश कहकर

भक्ति और सेवा का जीवन व्यतीत करने को लाभदायक बतलाता है, तीसरा संसार के पदार्थों और घटनाओं को तात्विक दृष्टि से देखते हुये अपने मन और बुद्धि को उनमें आसक्त न होने देने की सलाह देता है।

न्याय-दर्शन को हम इस तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत ही रख सकते हैं। यद्यपि वह आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म, ईश्वर की उपासना आदि में पूर्ण विश्वास रखता है, पर इनको उचित रूप में प्राप्त करने, जीवन को लौकिक तथा पारलौकिक दृष्टि से सफल बनाने के लिये सांसारिक पदार्थों और घटनाओं का ही विवेचन करता है। उसका मत है कि मनुष्य का समस्त ज्ञान मन, बुद्धि और इन्द्रियों ही द्वारा प्राप्त होता है। यदि इनमें से किसी एक में भी विकार उत्पन्न हो जायगा तो मनुष्य का ज्ञान भी उसी अनुपात से विकृत हो जायगा और तब उस ज्ञान द्वारा किसी महत्व-पूर्ण समस्या पर विचार करके जो परिणाम निकाला जायगा वह भी विकारयुक्त अथवा उद्देश्य की पूर्ति न करने वाला होगा।

इस तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर न्याय-दर्शन यह सिद्धान्त प्रति-पादित करता है कि यदि मनुष्य संसार में आकर सद्व्यवहार और सत्कर्म करके दुःखों से छुटकारा पाना चाहता है तो इसके लिए सर्वप्रथम उसे उन सब पदार्थों—तत्वों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिनसे इस जड़ तथा चैतन्य रूप जगत की रचना हुई है। विभिन्न मतानुयायी इसका स्वरूप पृथक पृथक बतलाते हैं, जिनसे किसी भी मनुष्य की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। इस अवस्था का निराकरण करने के लिये न्याय-दर्शन तर्क और प्रमाणों की एक ऐसी परिपाटी उपस्थित करता है जिससे पदार्थ के यथार्थ रूप का निर्णय हो सके। उसके पहले ही सूत्र में कहा गया है—

"प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान—ये सोलह निःश्रेयस (मुक्ति अथवा कल्याण) के साधन हैं।"

इस सूची में पहले दो विषय प्रमाण और प्रमेय हैं। प्रमाण का अर्थ है इस प्रकार का कोई साधन या कसौटी जिससे हमको सत्य और असत्य का भेद मालूम हो सके। यथाथ ज्ञान प्राप्त करने में सबसे प्रमुख विषय यही है और इसलिये इसको प्रमेय (जानने योग्य विषय) से भी पहले स्थान दिया गया है। इससे सूत्रकार का आशय यही है कि बिना अच्छाई-बुराई, वास्तविकता और अवास्तविकता को जाने संसार में जीवन व्यतीत करना निरर्थक है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। 'प्रमेय' पर विचार करने के लिये हमको पहले 'प्रमाण' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे ज्ञान-क्षेत्र में कदम रखते ही हम इस बात का निर्णय कर सकें कि यह विषय वास्तव में विचार करने योग्य है भी या नहीं ?

तीसरा विषय 'संशय' बतलाया है। सच्ची परीक्षा करने के लिये इस बात की भी बहुत अधिक आवश्यकता है कि हम संसार के पदार्थों और उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भी सकते हैं या नहीं ? दर्शन शास्त्र में यह 'सन्देहवाद' एक अनिवार्य बात है और सच तो यह है कि जब मनुष्य के हृदय में लौकिक और पारलौकिक विषयों के सम्बन्ध में संशय की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तभी उन पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करके ठीक-ठीक निर्णय करने की आवश्यकता अनुभव होती है। जब सन्देह दूर हो जाता है और हम यह जान लेते हैं कि सत्य और असत्य के निर्णय करने की शक्ति संभव है और मनुष्य उसे प्राप्त कर सकता है, तब हम चौथे विषय 'प्रयोजन' पर पहुँचते हैं जिससे हम इस बात पर विचार करते हैं कि हम किस कार्य के लिये क्या जानना चाहते हैं ? उसके पश्चात् 'दृष्टान्त' या उदाहरण द्वारा हम यह देखते हैं कि इस प्रकार की स्थिति में अन्य लोगों ने किन उपायों का अवलम्बन किया और तब हम इस निष्कर्ष या 'सिद्धान्त' पर पहुँचते कि हमारे प्रयोजन के सिद्ध करने के लिये यह मार्ग उपयुक्त ठहरेगा।

इसके पश्चात् आगे बढ़ने पर जब हम 'सिद्धान्त' रूप में स्वीकार की गई विधि से ज्ञातव्य विषय की विवेचना करने लगते हैं तो हम को आगामी तीन पदार्थ 'अवयव' 'तर्क' और 'निर्णय' से काम लेना पड़ता है। किसी विषय का अनुमान करते समय जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है उसके विभिन्न अंगों को 'अवयव' कहते हैं। अनेक अवयवों को मिलाकर एक साथ देखना और उनके गुप्त अर्थ को समझ लेना 'तर्क' है और इस तर्क के द्वारा एक निश्चयात्मक ज्ञान पर पहुँचना 'निर्णय' कहा गया है।

पर किसी एक व्यक्ति का अभिमत, जब तक कि वह आप्त-पुरुष न हो, सर्व सम्मत से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिये सत्यासत्य का सर्वमान्य निर्णय करने के लिये आवश्यक है कि अनेक विद्वान प्रमाणों के आधार पर उस विषय पर चर्चा करके कोई निष्कर्ष निकालें। इस प्रकार की शास्त्र-चर्चा को, जब वह वास्तव में तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त की जाती है 'वाद' कहते हैं। इसके द्वारा संसार के विभिन्न पदार्थों के सच्चे स्वरूप का परिचय प्राप्त करके मनुष्य तदनुकूल आचरण कर सकता है। पर जब इस प्रकार की चर्चा केवल प्रतिद्वन्दिता के भाव से, अपने प्रतिद्वन्दी पर विजय प्राप्त करने के हेतु की जाती है और केवल अपने पक्ष को प्रमाणित करने वाली युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं तो उसे 'जल्प' कहा जाता है। इससे भी आगे चलकर जब वक्ता का उद्देश्य केवल प्रतिद्वन्दी के मत का खण्डन करना होता है और वह अपने पक्ष का समर्थन करना छोड़ कर केवल विपक्ष के मत के दोष दिखलाता है तो उसे 'वितण्डा' कहा जाता है। इस प्रकार किसी शास्त्रीय विषय पर चर्चा करने या 'कथा' के तीन रूप 'वाद' 'जल्प' और 'वितण्डा' न्याय-दर्शन में बतलाये गये हैं।

इस प्रकार के खण्डन-मण्डन वाले शास्त्रार्थ या वादविवादों में दोनों पक्षों—वादी-प्रतिवादी द्वारा जो युक्तियाँ दी जाती हैं उनको भी

तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। जब किसी विषय में जिज्ञासा के भाव से, सद्-हेतु से अनुमान किया जाता है तो उसे 'वाद' कहा जाता है। पर जब शास्त्रार्थ का उद्देश्य केवल जय-पराजय होता है तो ऐसी युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं जो सच्ची युक्ति न होकर युक्ति की नकल होती हैं। ऐसी युक्ति को न्याय में 'हेत्वाभास' कहा गया है। जब वादविवाद करने वाला शब्दों को तोड़-मरोड़ कर, उनका गलत अर्थ निकाल कर प्रतिद्वन्दी को हराने का प्रयत्न करता है तो उसकी गणना 'छल' में होती है। जब बहस में अप्रासंगिक विषय लाकर 'सवाल कुछ और जवाब कुछ' वाली उक्ति को चरितार्थ किया जाता है तो उसे 'जाति' कहते हैं।

न्याय का अंतिम पदार्थ निग्रह-स्थान' माना गया है। इसका आशय वाद-विवाद द्वारा अन्त में प्रतिद्वन्दी की युक्तियों की किसी ऐसी कमजोरी (दोष) को पकड़ लेना है जिससे उसकी पराजय हो सके। इसे बाईस तरह का बतलाया गया है और पाँचवे अध्याय का द्वितीय आन्हिक केवल निग्रह-स्थान का वर्णन करने में प्रयुक्त है।

न्याय-दर्शन में ये सोलह पदार्थ किसी भी विषय के गुण-दोषों की परीक्षा करके सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये बतलाये गये हैं। पर ये सब एक से महत्व के नहीं है। इनमें से अन्तिम सात अर्थात् 'वाद' से लेकर 'निग्रह-स्थान' तक तो केवल शास्त्रार्थों से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये इनका वर्णन संक्षेप में कर दिया गया है और उनका एक उद्देश्य यह भी है कि सम्मिलित विचार करते समय गलत ढङ्ग की युक्तियों या मनगढ़न्त प्रमाणों से बचा जा सके। सत्य के निर्णय का मुख्य साधन प्रमाण ही है, जिसे दूसरे अध्याय बहुत विस्तार पूर्वक समझाया गया है।

प्रमाण—

जहाँ अन्य दर्शनों में मुख्यतः तीन प्रकार के प्रमाण, प्रत्यक्ष,

अनुमान और शब्द माने गये हैं वहाँ न्याय में एक चौथा प्रमाण उपमान और कहा गया है। सूत्र १-१-४ के अनुसार (१) 'प्रत्यक्ष प्रमाण वह है जो इन्द्रियों और अर्थ के सामीप्य (संयोग) से होता है। यह केवल नाम पर आधारित नहीं होता, यथार्थ और निश्चय रूप से होता है।"

न्याय-दर्शन में अनुमान-प्रमाण का बड़ा महत्व है क्योंकि अप्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध कुछ निर्णय कर सकने का एक मात्र साधन वही है। यह कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों का वास्त-विक और सत्य-ज्ञान योग द्वारा होता है, क्योंकि हम योगियों से पर-मात्मा, आत्मा और परलोक के सम्बन्ध में कितनी ही ऐसी बातें सुनते रहते हैं जो जाँच करने पर सत्य सिद्ध होती हैं। पर साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि योग का मार्ग बहुत ही थोड़े—विशेष व्यक्तियों के लिये सम्भव है और उसे सर्व-साधारण के लिये प्रमाण स्वरूप ग्रहण करना उचित नहीं। सब योगियों की योग्यता एक-सी नहीं होती और न प्रत्येक की सब बातें सत्य ही प्रमाणित होती हैं। इसलिये एक तीसरा व्यक्ति जो ऐसी गूढ़ विद्याओं पर विश्वास नहीं रखता, उन पर सन्देह कर सकता है। पर न्याय-दर्शन में किसी विषय को बुद्धि द्वारा प्रमाणित किया जाता है। उसमें प्रत्यक्ष बातों को देखकर उनकी सहायता से तर्क करके अप्रत्यक्ष विषयों का अनुमान किया जाता है।

न्याय के तर्क और अनुमान गणित के समान विधि से सिद्ध किये जाते हैं, इसलिये वे सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति की समझ में आ जाते हैं और सत्य तथा असत्य का निर्णय करने में उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। इसके लिये न्याय-सूत्र के रचयिता ने एक विशेष विधि निकाली है उसे 'पञ्च अवयवी' कहते हैं। उसमें (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु (३) उदा-हरण, (४) उपनय और (५) निगमन—इन पाँच विभागों में वाक्य को बाँटकर अन्य व्यक्ति को समझाया जाता है। इसके लिये न्याय-दर्शन में अग्नि और धुँये का उदाहरण दिया गया है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर में आग जलते समय सदैव धुँआ निकलते देखता है, वह यदि कभी

किसी पहाड़ पर धुँआ उठते देखता है तो दूर रहने पर भी यह अनुमान लगा लेता है कि वहाँ भी आग जल रही होगी।

उपमान-प्रमाण को बहुत से लोग अनावश्यक बतलाते हैं। उनका कहना है कि "प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है और उपमान में भी इसी विधि से काम निकाला जाता है तब उपमान को मानने की आवश्यकता ही क्या है?" (२-१-४६) इसका समाधान करते हुये सूत्रकार ने कहा है कि "अनुमान तो हम प्रत्यक्ष का करते हैं, पर उपमान द्वारा हम एक ही जाति की अन्य प्रत्यक्ष वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" (२-१-४७)

शब्द-प्रमाण का आधार आप्त-उपदेश बतलाया गया है। जिन विषयों का निर्णय हम प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा नहीं कर सकते उनके लिये प्रामाणिक और विश्वस्त व्यक्तियों के कथन का आधार लेकर काम चलाते हैं। जिस प्रकार मन्त्र और औषधि के विषय में कार्य-कारण सम्बन्धी सम्बन्ध को न समझने पर भी हम उनके विशेषज्ञों के कथन पर विश्वास रखकर लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार आप्त-पुरुषों द्वारा कहे गये सिद्धान्तों पर विश्वास रखकर और आचरण करके भी हम सत्य को प्राप्त कर सकते हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं। (२-१-६६)

प्रमेय—

प्रमेय उस वस्तु अथवा पदार्थ को कहते हैं जिसके विषय में प्रमाण का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से संसार का कोई भी विषय 'प्रमेय' के क्षेत्र से बाहर नहीं। फिर भी न्याय-दर्शन में प्रमेय के १२ मुख्य भेद बतलाते हैं—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। (१-१-९)

"आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष—ये १२ प्रमेय हैं।"

इस सूची में से पहले ६ विषय मनुष्य को कारण-रूप दृष्टि से देख कर निश्चित किये गये हैं और अन्तिम ६ उसकी क्रियाओं तथा क्रिया-फल से सम्बन्धित हैं। इसमें सबसे पहले 'आत्मा' को स्थान दिया गया है। कितने ही आक्षेपकर्ताओं ने ईश्वर को कर्ता न मानने के कारण 'न्याय' पर नास्तिकता का आरोप किया है पर अन्य-देशीय तथा विभिन्न धर्मों के दर्शनों ने जहाँ आत्मा की सत्ता पर अविश्वास प्रकट किया है न्याय-दर्शनकार ने उसे बड़े सुदृढ़ प्रमाणों से सिद्ध किया है। तीसरे अध्याय में 'प्रमेय' विषय पर विचार आरम्भ करते ही उसमें कहा है—

दर्शन स्पर्श नाभ्यामेकार्थग्रहणात्

शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से आत्मा को भिन्न सिद्ध करते हुये 'न्याय' एक अकाट्य तर्क पेश करता है कि आँखें केवल देखती हैं और त्वचा केवल स्पर्श द्वारा जानकारी प्राप्त करती है। पर मनुष्य दोनों गुणों को एक साथ मिलाकर वस्तु के गुणों में सामञ्जस्य करके उसके स्वरूप को समझ लेता है। इस प्रकार कई इन्द्रियों के ज्ञान को मिलाकर जो शक्ति पदार्थ की वास्तविकता को ग्रहण कर लेती है वही आत्मा है। इसी तरह का दूसरा प्रमाण यह है कि एक इन्द्रिय की क्रिया का प्रभाव भी तुरन्त दूसरी इन्द्रिय पर पड़ जाता है। जैसे हमने खाने का कोई स्वादिष्ट या रुचिकर पदार्थ देखा तो उसी समय मुँह में पानी (लार) भर गया। इसमें एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान को ग्रहण करके उसके द्वारा दूसरी इन्द्रिय को प्रभावित करने वाली शक्ति भी आत्मा के सिवाय और कोई दिखलाई नहीं देती।

तीसरा प्रमाण यह है कि हम किसी व्यक्ति या पदार्थ को देखते हैं और हमको यह ख्याल आ जाता है कि हमने पहले कभी इसे देखा है। अन्य दार्शनिक इसे स्मरण-शक्ति का कार्य बतलाते हैं, पर गौतम इसके साथ ही यह भी कहते हैं कि यह स्मृति आत्मा ही का गुण है और उसकी सत्ता का दृढ़ प्रमाण है। क्योंकि दस-पाँच वर्ष पहले जो उसे देखा था

उसका अनुभव अब असली रूप में तो मौजूद है नहीं, केवल संस्कार रूप से वह विद्यमान है। भूतकाल और वर्तमान काल की दोनों घटनाओं को मिलाकर दोनों अनुभवों का एक निष्कर्ष निकाल लेना आत्मा का ही काम है।

पुनर्जन्म—आत्मा की तरह पुनर्जन्म के प्रश्न का समाधान भी न्याय-दर्शन ने प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले चिन्हों के आधार पर किया है। उसका कहना है कि जन्म लेते ही शिशु में हर्ष, भय, शोक के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। बिना जीवन की अनुभूतियों के इन चिह्नों का प्रकट हो सकना सम्भव नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा ने पिछले जन्मों में जो अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हैं उन्हीं के प्रभाव से बालक जन्म समय से ही ऐसी प्रवृत्तियों को प्रकट करने में समर्थ होता है।

शरीर और इन्द्रियाँ—यद्यपि शरीर पाँचों तत्वों से बना है, पर न्याय ने इसे विशेष रूप से पार्थिव ही माना है। जल, वायु, तेज उस पार्थिव अंश के सहायक रूप में ही होते हैं। इसलिये पृथ्वी-तत्व को मुख्य और शेष को गौण समझना चाहिये। शायद इसी तथ्य को समझ कर हमारे देश के अधिकांश सन्तों तथा ज्ञानियों ने एक स्वर से यही कहा है कि "यह मिट्टी की देह अन्त में मिट्टी में ही मिल जायगी।"

इन्द्रियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इन्द्रियाँ दृश्य शरीर का अंश नहीं है, वास्तव में वह पदार्थों के गुणों को जान सकने की शक्ति हैं। इसलिये इन्द्रियों को भौतिक के बजाय अभौतिक मानना चाहिये। यही कारण है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त बृहत् पदार्थों को एक समान ग्रहण कर सकती हैं।

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि पाँचों इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं या दर असल वे एक चेतनता के पाँच विभिन्न रूप हैं। कुछ लोग पाँचों इन्द्रियों को मूल में एक ही मानते हैं और त्वचा को ही प्रमुख इन्द्रिय बतलाते हैं। उनका मत है कि त्वचा ही समस्त शरीर में व्याप्त है। आँख,

कान और नाक जो अनुभव या ज्ञान प्राप्त करती हैं उसका कारण त्वचा ही है क्योंकि त्वचा सब शरीर में व्याप्त है। आँख, कान, नाक आदि में भी वहाँ की त्वचा ही तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करती है। पर न्याय-दर्शन इस मत को नहीं मानता। उसका कथन है कि यह संसार पंच-भौतिक है, पाँच भूतों का एक-एक गुण शब्द, स्पर्श, तेज, रस और गन्ध हैं और पाँचों को ग्रहण करने के लिए पाँच इन्द्रियाँ भी हैं। इस दृष्टि से इन सब को एक मानना भ्रम की बात है। इन इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परिणाम भी प्राप्त होते हैं, जिनको देखते हुये उनको एक ही इन्द्रिय का फल नहीं माना जा सकता।

अर्थ—इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँचों से सम्बन्धित ज्ञान को ही 'अर्थ' कहा गया है।

बुद्धि—न्याय-दर्शन के सूत्र १-१-१५ के अनुसार "बुद्धि, उपलब्ध और ज्ञान—ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।" मनुष्य को जो ज्ञान होता है वह प्रायः इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। परन्तु, न्याय-दर्शन में बुद्धि का आशय इतना ही नहीं है। मनुष्य एक कार्य को करता हुआ उसे देखता और समझता जाता है और उसी समय कोई व्यक्ति सर्वथा भिन्न विषय के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने लगता है तो वह तुरन्त ही उसको भी उत्तर दे देता है। यदि कोई विषय बहुत पुराना हो और एकाएक याद न आवे तो भी प्रयत्न करने से—सोचने से वह भी प्रायः याद आ जाता है। अन्य दार्शनिक तो इसको केवल स्मृति का कार्य समझते है और कहते हैं कि पुरानी स्मृतियाँ जो अनेक नवीन स्मृतियों के नीचे दब जाती हैं देर से या विशेष प्रयत्न करने पर याद आती हैं। पर न्याय का मत है कि ये सब बातें बोध या ज्ञान के रूप में चेतना में टिकी नहीं रहतीं वरन् संस्कार के रूप में स्थिति में रहती हैं और वही आवश्यकता पड़ने पर 'बोध' को उक्त विषय का ज्ञान करा देती हैं।

न्याय में बुद्धि को अनित्य माना गया है। इसका आशय भी यही

है कि इन्द्रिय और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान तो उसी समय समाप्त हो जाता है, पर उसका संस्कार स्थायी रूप से बना रहता है जो अवसर पड़ने पर पुनः प्रकट हो जाता है। मन भीतर की अप्रकट इन्द्रिय है जो बुद्धि की सहायक है। इसी के द्वारा सुख और दुःख राग-द्वेष आदि का अनुभव होता है।

इस प्रकार आत्मा से मन तक व्यक्ति के उन विभागों का वर्णन किया गया जिनके कारण क्रिया करना और उनके परिणाम के सम्बन्ध में निश्चय करना सम्भव होता है। शेष ६ प्रमेयों में उन क्रियाओं या प्रवृत्तियों का वर्णन आता है जिनके द्वारा मनुष्य शुभ या अशुभ कर्मों का भागी होकर मूल-गन्तव्यस्थ न निःश्रेयस या अपवर्ग की तरफ अग्रसर होता या उससे दूर हटता है।

प्रवृत्ति—मन, वाणी, शरीर से किसी क्रिया का होना प्रवृत्ति है। इसका अर्थ वेदों में बतलाई यज्ञ आदि क्रियाएँ भी हैं जिनका फल पुण्य बतलाया गया है। वेदों में जिन कर्मों को निषिद्ध बतलाया गया है उनसे अधर्म अथवा पाप की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से स्वाभाविक या आकस्मिक होने वाली घटना और प्रवृत्ति में अन्तर है, यद्यपि ऊपर से दोनों एक-सी दिखलाई पड़ती हैं। प्रवृत्ति में उन्हीं क्रियाओं का समावेश होगा जो समझबूझकर किसी इरादे के साथ की जायें।

दोष—न्यायशास्त्र में दोष के तीन भेद माने गये हैं। (१) राग अर्थात् इच्छा या किसी विषय की अभिलाषा, (२) द्वेष अर्थात् क्रोध, (२) मोह अर्थात् मिथ्याज्ञान। इन्हीं तीनों के प्रभाव मनुष्य सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता है। न्याय में मोह को सर्वप्रधान माना गया है और सूत्र (४—१—६) में कहा गया है कि "मोह बड़ा पापी है यदि मनुष्य मोह से बचा रहे तो राग और द्वेष भी नहीं होंगे।" मोह का वास्तविक स्वरूप 'सत्यज्ञान का अभाव' ही है।

प्रेत्यभाव—इसका अर्थ है पुनर्जन्म। मनुष्य का चरम लक्ष्य दोषों—राग, द्वेष और मोह से छुटकारा पाना है, क्योंकि यही सब प्रकार के दुःखों का कारण और अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग में बाधा स्वरूप है। पर जैसा सभी ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है इन तीनों से सर्वथा छूट सकना सहज नहीं है। इसके लिए बहुत लम्बे समय तक नैतिकतापूर्ण जीवन का अतिवाहित करना आवश्यक है जो एक जन्म में सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये न्याय-दर्शन का मत है कि हमारा यह प्रयत्न एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में भी जारी रहता है। हमारा वर्तमान जीवन तो समस्त जीवन की एक छोटी-सी कड़ी है जिसमें न मालूम कितनी जीव-योनियाँ और मनुष्य-जन्म जुड़े हुए हैं। इस प्रयत्न में अपनी शक्ति और प्रयत्न के अनुसार हम अपवर्ग की ओर बढ़ते जाते हैं और अन्त में अनेक जन्मों के पश्चात् इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त होती है।

न्याय-दर्शन का मत है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर कर्मफल भोगने में परतन्त्र है। इसी कारण अनेक मनुष्यों को ठीक मार्ग से चलने पर, पूरा उद्योग करने पर भी फल उनकी इच्छा के विपरीत मिलता है। न्याय ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि फल देना ईश्वर के हाथ में है, जो पूर्व कर्मों के अनुसार मिलता है और जिससे मनुष्य किसी दशा में बच नहीं सकता।

कर्म-फल मिलने के सम्बन्ध में न्याय-दर्शनकार ने प्रति-पक्ष की तरफ से दो शंकायें उठाकर उसकी अनिवार्यतः स्पष्ट रूप से सिद्ध की है। प्रतिपक्षी कहता है कि संसार में कार्य-कारण का यह नियम देखा जाता है कि कारण के समाप्त होने पर कार्य उसी समय आरम्भ हो जाता है, पर कर्म-फल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका फल कर्म करने से बहुत बाद में परलोक जाने पर मिलेगा। यह बात कार्य-कारण नियम के विपरीत है। दूसरी शंका यह है कि जब सब प्रकार के बुरे और भले कर्म हमारा वर्तमान शरीर करता है तो यह कहाँ का न्याय है कि उन कर्मों का

फल अन्य जन्मों में दूसरे शरीर को सहन करना पड़े। इन शंकाओं का निराकरण सूत्रकार ने इस प्रकार किया है कि सब कारणों का फल तुरन्त ही नहीं मिल जाता। हम अपने जीवन निर्वाह के लिये जो खेती करते हैं उसमें भी बीज बोने और सींचने के कारणरूप तथ्यों का परिणाम अर्थात् अन्न का प्राप्त होना कई महीने बाद दिखलाई पड़ता है। दूसरे आक्षेप के उत्तर में कहा गया है कि कर्म-फल का भोक्ता शरीर नहीं आत्मा है और वही कर्ता भी है। इसलिये यदि एक जन्म के कर्मों का फल दो-चार जन्मों के बाद भी अनुकूल परिस्थिति आने पर मिले तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दुःख—यद्यपि संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं और उनके अनेक कारण पाये जाते हैं, पर उस सबके सारांश रूप में न्याय-दर्शन ने यह परिभाषा दी है कि "बाधना लक्षण दुःखम्" (इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ना दुःख का लक्षण है।) जिस प्रकार जीवन-यापन करने का मनुष्य को अभ्यास पड़ जाता है उसमें किसी तरह की रुकावट पड़ने का अर्थ ही दुःख है। यह रुकावट या बाधा चाहे अपनी गलती से पैदा हो, चाहे कोई अन्य व्यक्ति डाले और चाहे प्रकृति के कारण उत्पन्न हो, मनुष्य उसके कारण दुःख का अनुभव ही करता है। 'न्याय-दर्शन' ने संसार को विशेष रूप से दुःखमय ही माना है, क्योंकि उनके मतानुसार इसमें जन्म लेना तथा मृत्यु आने पर इसे छोड़ना दोनों दुःखरूप ही हैं। इस पर प्रतिपक्ष का कहना है कि दुःख में सुख भी मिला रहता है जिसके कारण मनुष्य किसी भी दशा में स्वेच्छा से संसार को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता। वास्तव में इस संसार में सुख और दुःख दोनों मिले हुए ही दिखाई देते हैं, इसलिये इसे मिश्रित ही कह सकते हैं।

अपवर्ग या मोक्ष—प्रमेय में अन्तिम विषय अपवर्ग या मोक्ष का है, जिसका अर्थ है दुःखों का अत्यन्त अभाव। इसका आशय यही है कि

जब मनुष्य दुःख-भाव से सर्वथा ऊपर उठ जाता है और कैसी भी विपरीत परिस्थिति उसके मनको चलायमान या व्यथित नहीं करती, तब वह मोक्ष की अवस्था होती है। इसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि जङ्गल में जाकर तपस्या या कठोर साधना की जाय। दुःख और सुख की भावना मनुष्य के मन में रहती है और जब ज्ञान प्राप्ति होकर उनकी व्यर्थता को मनुष्य समझ जाता है, तो उसे भव-बन्धन से मुक्त ही समझना चाहिये।

न्याय-दर्शन की विशेषताएँ—

ईश्वर की सत्ता—यद्यपि न्याय ने इस जगत की उत्पत्ति परमाणुओं के संयोग से मानी है, जैसा कि आधुनिक विज्ञान का भी निष्कर्ष है, पर उसने ईश्वर की सत्ता से कहीं भी इनकार नहीं किया है। इतना ही नहीं इतिहास द्वारा सिद्ध होता है कि जब बौद्ध धर्मावलम्बियों ने निरीश्वरवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया और उसके कारण देश में नास्तिकता के भावों की वृद्धि होने लगी तो न्याय-दर्शन के आचार्यों ने ही बड़े प्रौढ़ तर्कों से उनके मत का खण्डन करके ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया और नास्तिकवाद की धारा को आगे बढ़ने से रोका। यह ठीक है कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि दर्शनों ने ईश्वर के स्वरूप की विस्तारपूर्वक विवेचना नहीं की है, पर इसका कारण यही था कि उस समय उनको ऐसा करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। वे जगत का अस्तित्व मानने के साथ ईश्वर का अस्तित्व मानना स्वाभाविक समझते थे। न्याय-दर्शन के एक प्रसिद्ध आचार्य उदयन ने ईश्वर सिद्धि के लिए जो तर्क पेश किये हैं वे इसी प्रकार के स्वाभाविक तथ्यों पर निर्भर हैं। उनका सारांश एक लेखक ने इस प्रकार प्रकट किया है।

(१) घट की उत्पत्ति होती है और उसको उत्पन्न करने वाला एक 'कर्ता' होता है। उसी प्रकार यह जगत भी एक कार्य है। इसका भी

कोई 'कर्ता' है। इतने विशाल और अटल नियमों पर चलते रहने वाले जगत का कर्ता अवश्य ही सर्वज्ञ होना चाहिये। वही कर्ता ईश्वर है।

(२) प्रलय-काल में समस्त कार्य-जगत परमाणु रूप में आकाश में रहता है। ये परमाणु जड़ हैं। पुनः सृष्टि के अवसर पर इन्हीं परमाणुओं में संयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और वे क्रमशः द्व्यणुक, त्र्यणुक के रूप में परिवर्तित होकर सृष्टि का विकास करने लगते हैं। परमाणुओं में इस संयोग की क्रिया को उत्पन्न करने के लिये किसी चेतन की आवश्यकता होती है। उस समय कोई अन्य 'चेतन' पदार्थ नहीं होता। इसलिये ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिसकी इच्छा और प्रेरणा से परमाणुओं में क्रिया आरम्भ होती है। वह चेतन-तत्व ईश्वर ही है।

(३) जगत का कोई आधार होना आवश्यक हैं, अन्यथा इसका पतन हो जायगा। इसी प्रकार जगत रूप कार्य का नाश करने वाले की भी आवश्यकता है। साधारण मनुष्य इसका नाश नहीं कर सकता। अतः जो इस जगत का धारण करने वाला और नाश करने वाला है वही ईश्वर है।

(४) इस जगत की रचना में जो कला-कौशल दिखाई पड़ता है, उस सबको उत्पन्न करने वाला सृष्टि के आदि में कोई अवश्य होता है। वही प्रलय से पूर्वकाल में विद्यमान ज्ञान को फिर से आरम्भ करता है। ऐसा करने वाली शक्ति ही ईश्वर है।

(५) वेद को हम तभी प्रामाणिक मान सकते हैं जब उनका रचयिता भी सर्वथा प्रामाणिक हो। वेदों का रचयिता ईश्वर ही है। ईश्वर में सब की श्रद्धा है इसलिये वेदों में भी सबकी श्रद्धा है।

यदि यह शंका की जाय कि ईश्वर है तो हमको उसका स्पष्ट अनुभव क्यों नहीं होता तो इसका कारण यही है कि ईश्वर अतीन्द्रिय तत्व है। हम अपनी इन्द्रियों द्वारा तो स्थूल पदार्थों का ही अनुभव कर

सकते हैं। पर ईश्वर तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्व है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार हो सकता है। तो भी उसके कार्य को देखकर उसका अनुमान अनिवार्य रूप से होता है। यह इतना बड़ा, विचित्रतापूर्ण जगत, उसमें असंख्यों प्रकार के जीव, जन्तु, पशु, पक्षी मनुष्य, वनस्पति, जल, स्थल, नदी, पर्वत, समुद्र आदि का अस्तित्व और उनको सदैव एक निश्चित नियम के अनुसार कार्य करते देखकर हमारे मन में स्वभावतः यह भाव उत्पन्न होता है कि इस सबका रचयिता—नियन्त्रणकर्ता कोई होना आवश्यक है। संसार की ये सब वस्तुयें कार्य रूप हैं तो इनका कोई कर्ता होना भी अनिवार्य है, वही ईश्वर है।

कुछ लोग इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि की उत्पत्ति होती तो किसी ने देखी नहीं, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि इनको ईश्वर ने रचा है। न्याय-दर्शन इसका यह उत्तर देता है कि पृथ्वी, सागर आदि सावयव पदार्थ हैं, अर्थात् अनेक प्रकार के परमाणुओं के मिलने से इनका निर्माण हुआ है। इस प्रकार का निर्माण कार्य, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो अवश्य ही किसी कर्ता की कृति होती है। जिस प्रकार आजकल हम प्राचीन खण्डहरों की जाँच करते हैं और भूगर्भ में से जब कभी कोई बनी हुई चीज—घड़ा, वर्तन, हथियार, जूता, कपड़ा आदि निकल आता है तो हम यह निश्चय कर लेते हैं कि उस स्थल पर कभी अवश्य ही बुद्धि रखने वाले मनुष्य का अस्तित्व रहा होगा। क्योंकि कई प्रकार के पदार्थों को मिला कर किसी प्रयोजन के लिये कोई नई वस्तु बनाना बुद्धियुक्त चेतन व्यक्ति के लिये ही सम्भव है। इसी प्रकार हम जब संसार में तरह-तरह की अद्भुत रचना को देखते हैं, उसके भीतर कई प्रकार के प्राकृतिक नियमों को काम करते देखते हैं जिनके द्वारा यह जगत का कार्य करोड़ों वर्षों तक स्थिर रहकर चलता रहता है, तो उसका कोई कर्ता अवश्य मानना पड़ता है और वही ईश्वर है।

एक दूसरी शंका निरीश्वरवादी और भी करते हैं कि मान लो

जगत की रचना करने वाला ईश्वर है, तो वह कारण या प्रयोजन भी बतलाओ जिसके लिये उसने इसकी रचना की। उसकी यह प्रवृत्ति स्वार्थमूलक है या परार्थमूलक ? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ने अपने किसी स्वार्थ के लिए जगत को बनाया है—किसी प्रकार की इष्ट-प्राप्ति या अनिष्ट-परिहार उसका उद्देश्य है तो यह ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि वेद-शास्त्रों में ईश्वर को 'पूर्ण काम' भी कहा गया है। जिसे कोई कामना ही नहीं है, वह इस प्रकार का झंझट क्यों मोल लेगा ? यदि यह कहा जाय कि वह यह कार्य परोपकारार्थ, अन्य जीवों पर करुणा करने की दृष्टि से करता है तो यह बात भी इस जगत को देखकर सत्य प्रतीत नहीं होती। यदि ईश्वर ने जीवों पर करुणा करके, उनके कल्याण के लिए संसार को रचा होता तो इसमें सब प्राणी सब तरह से सुखी दिखाई पड़ते। पर स्थिति इसके प्रतिकूल है। यहाँ पर अधिकांश प्राणी दुःखी अथवा अभावग्रस्त ही पाये जाते हैं और उनको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़े-बड़े कष्टों और खतरों का सामना करना पड़ता है। हम अधिकांश व्यक्तियों को दुःख और शोक का भाव प्रकट करते ही देखते हैं। तब यह भी कैसे मान लें कि ईश्वर ने जगत की रचना परार्थ दृष्टि से की होगी ?

इस आरोप का समाधान करते हुए न्याय-दर्शन ने यह प्रतिपादन किया है कि ईश्वर जगतकी रचना जीवों के हितार्थ—उनके विकास की दृष्टि से करता है, पर वह उनके सुख और दुःख की व्यवस्था उनके कर्मों के अनुसार ही करता है। शुभ कर्म करने वाला सुख का अनुभव करता है और बुरे कर्म वाला दुःख पाता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि तब तो कर्म ही ईश्वर से अधिक शक्तिमान हुआ तो इसका उत्तर यह दिया गया है कि कर्म ईश्वर से बाहर की कोई चीज नहीं है। वह भी ईश्वर के भीतर होने से उसका एक अङ्ग है। इस प्रकार कर्म का नियम ईश्वर ने ही बनाया है और उसके कारण उसकी सत्ता और शक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती।

चरित्र और आचार—ईश्वर का अस्तित्व मानने का परिणाम चरित्र और आचार पर पड़ना अवश्यम्भावी है। न्याय-दर्शन में सांसारिक जीवन को दु:खमय माना है, अतएव उसमें आसक्त होना अथवा हीन वासनाओं में लिप्त होना उसकी दृष्टि में सर्वथा हेय, त्याज्य है। उसके अनुसार मानव-जीवन का लक्ष्य सांसारिक लालसाओं और कामनाओं को त्यागकर आत्मोत्थान के लिए ही प्रयत्न करना है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मिथ्याज्ञान को मिटाकर तत्वज्ञान को प्राप्त करे और उसी के अनुसार अपना जीवन-यापन करे। न्याय की शिक्षा के अनुसार यह संसार दु;खमय है इसलिए इसमें सुख का भ्रम करना और इन्द्रियों के विषयों में फँसना पतन का द्वार है। यह 'दु:खवाद' का सिद्धान्त अनेक लोगों की दृष्टि में हानिकारक है, फिर भी यह हीन कोटि का सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। इस पर विश्वास रखने वाला पापों से अधिकांश में दूर रह कर शुद्ध आचरण ही रखेगा। इसलिए न्याय-दर्शन में स्थान-स्थान पर मन और इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा का ध्यान करके और चित्त को एकाग्र करके उच्च भावों का चिन्तन करने का उपदेश दिया है। इसके लिए उसमें भी योग-दर्शन के अनुसार यम-नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा ध्यान आदि का अभ्यास आवश्यक बतलाया है। इस मार्गमें जो अड़चन पड़ें उनको आत्म विद्या के ज्ञाताओं और सन्तजनों की संगति करके दूर करना चाहिये। इस प्रकार जब तत्व-ज्ञान की जानकारी हो जायगी और उसके अनुकूल आचरण होने लगेगा तो मोक्ष का द्वार स्वयमेव खुल जायगा।

तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि न्याय-दर्शन मुख्यतः प्रमाण-शास्त्र है और उसका प्रधान लक्ष्य तर्क द्वारा सत्य और असत्य का निर्णय करना है। बाद के आचार्यों ने तो जिनमें मिथिला प्रान्त तथा बंगाल के अनेक पंडितों की विशेष रूप से गणना की गई है, उसे शास्त्रार्थ का साधन ही बना दिया है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि अब से पाँच-सात

सौ वर्ष पहले बंगाल में इस शास्त्रार्थ का प्रचार बहुत बढ़ गया था और यही पांडित्य का सबसे बड़ा लक्षण माना जाता था। मिथिला और बंगाल में उस काल में जयन्त भट्ट, गंगेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, गंगाधर आदि बड़े-बड़े नैयायिक विद्वान हुए जिन्होंने इस शास्त्र के सम्बन्ध में पचासों ग्रन्थ लिखे हैं जिनका अभीतक देश मे सर्वत्र पर्याप्त आदर है।

तर्क-शास्त्र भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय में भी प्रचलित था और रामायण, महाभारत तथा स्मृतियों में भी उसका उल्लेख मिलता है, उसके अनेक सिद्धान्तों की चर्चा भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलती है, पर उसका वास्तविक रूप क्या था इसका ठीक-ठीक पता अब नहीं चल सकता। वर्तमान न्याय-दर्शन की रचना महर्षि गौतम ने, जिनका वास्तविक नाम अक्षपाद था तथा गोत्र गौतम था, बौद्धमत से सनातन-धर्म की रक्षा के उद्देश्य से की है, ऐसा अनेक खोज करने वाले विद्वानों ने प्रमाणित किया है। अब से ढाई हजार वर्ष पहले जब बुद्ध का आविर्भाव हुआ और उन्होने उस समय की यज्ञों की दूषित पद्धति को मिटाने के लिए अहिंसा और शून्यवाद का प्रचार आरम्भ किया तो उनके महान व्यक्तित्व से प्रभावित होकर और स्वानुभवयुक्त उपदेशों को सुनकर बहुसंख्यक लोग उसकी तरफ आकर्षित हो जाते थे। यद्यपि उनको स्वयं जगत के दुःखों और जीवन की क्षणिकता का कोई अनुभव नहीं था पर सामयिक आवेश के कारण वे घर-बार छोड़ कर भिक्षु बन जाते और त्याग तथा तपस्या का जीवन स्वीकार कर लेते। पर जब आरम्भिक जोश मिट जाता तो ऐसे लोगों की बड़ी दुर्दशा होने लगती। भिक्षु-जीवन के कठोर नियमों का पालन करना उनके लिए कठिन हो जाता। साथ ही पुनः घर में लौटकर गृहस्थ-जीवन बिताना उन्हें लज्जाजनक जान पड़ता। इस द्विविधा के कारण उस समय हजारों व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो रहा था और वे निकम्मे तथा उद्देश्य विहीन भिखारी-मात्र बनते चले जाते थे।

घरके लोग तथा इष्ट-मित्र उनको अपनी भूल सुधार कर घर में रहने के लिये समझाते थे, पर बौद्ध धर्म के प्रभाव से वे तर्क की बातों के सिवाय अन्य बातों को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे ही अवसर पर अक्षपाद गौतम ने 'न्याय-दर्शन' की रचना की जिसमें तर्क द्वारा सत्य-असत्य और धर्म के स्वरूप का निर्णय करने का मार्ग-दर्शन किया गया था। इसकी सहायता से लोग बौद्धों के शून्यवादी तर्कों का खण्डन कर सकते थे, और जब वे शास्त्रार्थ में हार जाते तो पुनः अपने प्राचीन धर्म को स्वीकार करने को राजी हो जाते थे।

इस ग्रन्थ के अकाट्य तर्कों से जब बौद्ध विद्वान निरुत्तर होने लगे और उनके बहुसंख्यक अनुयायी उनको छोडने लग गये तो वे छल-कपट का आश्रय लेकर इस ग्रन्थ को नष्ट करने के लिए इसमें झूंठे और कल्पित सूत्र मिलाकर इसे दूषित करने का प्रयत्न करने लगे। यह देखकर वैदिक-धर्मी विद्वानों ने इसकी रक्षा के लिए बहुत चेष्टा की और बार-बार इसका संशोधन किया। अन्त में वाचस्पति मिश्र ने "न्याय सूची निबन्ध' नाम का ग्रन्थ लिखकर इसके समस्त सूत्रों तथा उनके अक्षरों तक की गणना करके ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिससे किसी प्रकार की मिलावट का तुरन्त पता चल जाय। इस प्रकार यह दर्शन भारतीय धर्म के इतिहास में बड़े महत्व का स्थान प्राप्त कर चुका है।

कहा जाता है कि प्राचीन काल में यूनान (ग्रीस) देश में भी 'दर्शन' का बड़ा प्रचार था और वहाँ के बहुसंख्यक व्यक्ति इसकी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। पर उनका उद्देश्य सांसारिक व्यवहार में चतुरता प्राप्त करना ही होता था। इसमें एक कारण यह भी था कि ग्रीस में वकीलों की प्रथा नहीं थी और इस कारण आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक व्यक्ति को अदालत में अपने अभियोग के सम्बन्ध में स्वयं ही बहस करनी पड़ती थी। भारतीय न्याय-दर्शन में भी यद्यपि शिष्य को प्रमाण और तर्क द्वारा किसी भी विषय पर चर्चा करने की शिक्षा दी जाती है और

विशेष परिस्थिति आने पर 'जल्प' 'छल' 'वितण्डा' जैसे उपायों से भी काम लेने की अनुमति दी गई है पर उसका अन्तिम उद्देश्य 'निःश्रेयस' की प्राप्ति ही रखा गया है। यह भारतीय मनीषियों की बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने ज्ञान का प्रचार करने के साथ-साथ उसके सदुपयोग की शर्त भी अनिवार्य रूप से लगा दी है। इसी बात के अभाव से आज योरोप तथा अन्य पश्चिमी देशों में ज्ञान-विज्ञान की बहुत अधिक उन्नति होने पर भी उसका परिणाम विपरीत दिखाई पड़ रहा है। जैसे-जैसे विज्ञान द्वारा सुख-सुविधा के साधन बढ़ रहे हैं, मनुष्यों की जानकारी अधिक होती जाती है, वैसे-वैसे ही उनकी अशान्ति, परेशानी, असुरता की भावना भी अधिक हो रही है। स्वार्थमूलक भावना की अधिकता के कारण उपलब्ध ज्ञान, शान्ति और सन्तोष के बजाय संघर्ष, प्रतियोगिता और नाश का कारण बन रहा है। इधर भारत के प्रत्येक दर्शन-शास्त्र ने भिन्न-भिन्न मार्ग पर चलते हुए भी आरम्भ में ही यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि हम जिस ज्ञान का प्रचार कर रहे हैं उसका अन्तिम उद्देश्य आत्म-कल्याण करना है। संसार में रहते हुए भी इसके पदार्थों को इतना ज्यादा महत्त्व मत दो कि उस के फलस्वरूप आत्मा का पतन हो जाय और ईंट, पत्थर, धातुएँ उसकी अपेक्षा कीमती समझी जानी लगें। सांसारिक व्यवहार को करते हुये भी, दुष्ट, अन्यायी, आक्रमणकारी व्यक्तियों से अपने हितों की रक्षा करते हुए भी 'परमार्थ' (परम-अर्थ) और 'निःश्रेयस' (सर्वोच्च हित) के लक्ष्य को न भुलाया जाय यही न्याय-दर्शन की शिक्षा है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

ॐ

न्याय-दर्शन

प्रथमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः ॥ १।१॥

सूत्रार्थ—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह और स्थान इनके, तत्वज्ञानात्=तत्वज्ञान के होने से, निःश्रेयस=मोक्ष की, अधिगमः=प्राप्ति होती है।

व्याख्या—प्रमेय, संशय आदि सोलह प्रकार के प्रमाण कहे गये हैं। न्याय में यही सोलह पदार्थ माने जाते हैं। जिस साधन से प्रमाता विषय को प्राप्त करता है; उस साधन को प्रमाण और ग्रहण किये जाने वाले विषय को प्रमेय कहते हैं। इन सबके तत्व को भले प्रकार जान लेने से मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—दुःख जन्मप्रवृत्तिदोपमिथ्याज्ञानानाम्=दुःख, जन्म, प्रवृत्ति दोष और मिथ्या ज्ञान में, उत्तरोत्तरापाये=एक के

पश्चात् दूसरे से छुटकारा पाने पर, तदन्तरापायात्=उसमें अन्तर की प्राप्ति से, अपवर्गः=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—तत्व ज्ञान के प्राप्त होने से मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है और मिथ्या ज्ञान के मिटने पर राग-द्वेष आदि का नाश होता है, जब राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं तब विषयों की प्रवृत्ति भी रुक जाती है और प्रवृत्ति के नष्ट होने पर तो मनुष्य की कर्म से भी निवृत्ति हो जाती है। कर्म नहीं होता तो प्रारब्ध नहीं बनता और प्रारब्ध के न बनने से जन्म-मरण भी नहीं होता। जन्म-मरण ही सुख-दुःख रूप है, जब सुख-दुःख नहीं तो मोक्ष सिद्ध होगया। इस प्रकार सुख-दुःख का अत्यन्त अभाव हो जाने को ही मोक्ष की प्राप्ति समझना चाहिए।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः=प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, प्रमाणानि=यह चारों प्रमाण कहे गये हैं।

व्याख्या—प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जब किसी पदार्थ को सिद्ध करना होता है, तब इन चार प्रकारों से ही उस पदार्थ का ज्ञान हो सकता है। अगले सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का निरूपण करते हैं—

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नम्=इन्द्रिय और उसके विषय के संयोग से उत्पन्न होने वाला, ज्ञानम्=ज्ञान, अव्यपदेश्यम्=न कहा गया, अव्यभिचारि=व्यभिचार दोष से रहित और, व्यवसायात्मकम्=संदेह से रहित होने के कारण, प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष सिद्ध प्रमाण है।

व्याख्या—इन्द्रिय और उसके विषय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जैसे अमुक व्यक्ति चल रहा है, अमुक व्यक्ति भोजन कर रहा है। जब नेत्र इन विषयों को प्रत्यक्ष देखता है, तब उसमें सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता। नेत्र जिस दृश्य को होते हुए प्रत्यक्ष देख रहा है, वह पहिले से कहा गया भी नहीं होता और प्रत्यक्ष घटित होने से वह ज्यों का त्यों दिखाई देगा, इसलिये उसके घटने-बढ़ने का दोष भी नहीं होता। इसीलिए जो प्रत्यक्ष है, वह प्रमाण सर्वोपरि और अकाट्य माना जाता है। अब अगले सूत्र में अनुमान प्रमाण का विवेचन किया जाता है।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—तत्पूर्वकम्=लक्षण के द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह, अनुमानम्=अनुमान है, च=और वह अनुमान, पूर्ववत्=कारण से कार्य का तथा, शेषवत्=कार्य से कारण का प्रयोजन होने से, सामान्यतोदृष्टम्=सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा गया है। यह अनुमान, त्रिविधम्=तीन प्रकार का है।

व्याख्या—लक्षण को देखकर जिस किसी वस्तु का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। जैसे सींग, पूंछ के अन्त में बाल, चार पाँव, कंधा उठा हुआ और कण्ठ के नीचे माँस लटकता हुआ होने से गौ का अनुमान होता है। ऐसे पशु को देखते ही सामान्य रूप से सभी लोग उसे गाय समझ लेते हैं, इसलिए इसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा गया है। जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो अर्थात् आम के वृक्ष को देखकर यह अनुमान किया जाय कि इस पर तो फल लगेंगे, वे आम के ही होंगे—यह पूर्ववत् अनुमान है तथा कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो, जैसे पुत्र है तो पिता अवश्य होगा—ऐसा अनुमान शेषवत्

कहा गया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनुमान प्रमाण के जो तीन भेद न्याय में कहे गये हैं वे उचित हैं। अब उपमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है।

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ--प्रसिद्ध साधर्म्यात्=प्रसिद्ध पदार्थों के समान धर्म से, साध्यसाधनम्=साध्य के साधन को, उपमानम्=उपमान प्रमाण कहा गया है।

व्याख्या—किसी पदार्थ में प्रसिद्ध पदार्थ के से लक्षण हों और उसकी पहिचान उस प्रसिद्ध पदार्थ का नाम लेकर कह देने मात्र से हो जाय, उसे उपमान प्रमाण कहा जायगा। जैसे किसी नील गाय को देख कर कह दें कि यह गौ के समान है अथवा नील गाय को गाय के समान देखकर यह समझ लें कि नील गाय होगी तो ऐसा अनुमान उपमान प्रमाण कहा जाता है।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—आप्तोपदेशः=आप्त पुरुषों का उपदेश, शब्दः= शब्द प्रमाण समझना चाहिये।

व्याख्या—आप्त पुरुष उन्हें कहते हैं जो सदाचारी, ज्ञानी, विद्वान और मोक्ष की कामना वाले तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हों। ऐसे व्यक्ति कभी मिथ्या भाषण नहीं करते और योग आदि के साधनों में लगे रहने से उन्हें जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके द्वारा वे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को जानने में भी पूर्ण समर्थ होते हैं। वे अपने योगबल से अप्राप्त विषयों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे पुरुष जो बात कहें, उसे प्रामाणिक माना जाता है। इसीलिये सूत्रकार ने आप्तजनों के उपदेश को 'शब्द प्रमाण' कहा है।

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—दृष्टादृष्टार्थत्वात्=दृष्ट और अदृष्ट के भेद से, सः=वह, द्विविधः=दो प्रकार का माना जाता है।

व्याख्या—आप्त शब्द के भी दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। जो विषय प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, उसके संबन्ध में कहा गया शब्द 'दृष्ट' कहा जाता है तथा जिस विषय को अनुमान से बताया गया हो, उसे अदृष्ट शब्द कहा गया है। जैसे कोई कहे कि 'पुत्र की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' इसमें यज्ञ करने से उसके फल रूप पुत्र का उत्पन्न होना नेत्र से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ेगा। परन्तु, यदि कहा जाय कि 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' यो यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का देखा जाना इस शरीर से सम्भव नहीं है। इसलिये इसे अदृष्ट शब्द कहा गया है। अब, अगले सूत्र में प्रमेय का विवेचन करेंगे।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—आत्म शरीरेन्द्रियार्थ ......=आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और मोक्ष, तु=यह बारह, प्रमेयम्=प्रमेय कहे गये हैं।

व्याख्या—आत्मा, शरीर आदि बारह प्रकार के प्रमेय बताये हैं। परन्तु, यथार्थ रूप में जिसके ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति हो, और जिसके ज्ञान में विपरीतता होने पर बन्धन की प्राप्ति हो, वही प्रमेय है। जैसे—आत्मा और परमात्मा इस प्रकार आत्मा के दो भेद हैं। इनमें परमात्मा तो निर्लिप्त है और आत्मा अपने कर्म का फल भोगने वाला है। उन कर्मों के फल को भोगने के साधन रूप में इन्द्रियाँ हैं और भोगने योग्य पदार्थ इन्द्रियों के विषय हैं, इनका अनुभव इन्द्रियों से ही होता है। परन्तु, इन्द्रियों से सब पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, इसलिये परोक्ष पदार्थों

का ज्ञान कराने वाला मन है। मन में राग और द्वेष दो प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती रहती है। यह दोनों दोष हैं, जिनमें पदार्थों को त्यागने और ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती रहती है। जन्म-मरण प्रेत्यभाव हैं और अच्छे या बुरे कर्मों का उपभोग ही फल है। यह फल भी दो प्रकार का है—बुरे कर्मों से दुःख और अच्छे कर्मों से सुख की प्राप्ति होती है। अत्यधिक सुख की प्राप्ति ही मोक्ष है, जिसमें दुःख का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अब, अगले सूत्र में आत्मा का लक्षण कहते हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्ग-मिति ॥१०॥

सूत्रार्थ—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्य=इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, इति=यह, आत्मानः=आत्मा के, लिङ्गम्=लक्षण कहे गये हैं।

व्याख्या—आत्मा के छै लक्षण हैं—(१) इच्छा—जिस वस्तु से पहिले सुख मिला, उसी वस्तु की प्राप्ति का विचार इच्छा कहा जाता है। (२) द्वेष—जिस वस्तु से पहिले कष्ट प्राप्त हुआ हो, उस वस्तु को देखकर उससे बचने के विचार को द्वेष कहा गया है। (३) प्रयत्न—दुःख के कारणों को दूर करने और सुख के कारणों को प्राप्त करने वाले कार्य को प्रयत्न कहते हैं। (४) सुख—जो शरीर को कष्ट न दे वह सुख है। (५) दुःख—जिसकी प्राप्ति से शरीर को कष्ट हो वह दुःख और (६) ज्ञान—आत्मा या देह के अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थों का जानना ही ज्ञान कहा गया है। अब शरीर का विवेचन करते हैं।

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥११॥

सूत्रार्थ—चेष्ट-इन्द्रियार्थ-आश्रयः=जो चेष्टा, इन्द्रिय और

उसके विषयों के लिये आधार रूप है, उसे, शरीरम् =शरीर अथवा देह कहा जाता है।

व्याख्या—जीव को अपने प्रारब्ध कर्म का भोग करने के लिये जन्म धारण करना होता है। सुख और दुःख की प्राप्ति को भोग कहा गया है और जिस आधार में रहकर आत्मा उस भोग को प्राप्त कर सके, वह आधार ही शरीर है। अब इन्द्रिय का लक्षण तथा भेद कहा जाता है।

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—घ्राणरसनचक्षुः=घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्-श्रोत्राणि=त्वचा और श्रोत्र, यह पाँचों, इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ, भूतेभ्यः=भूतों से उत्पन्न हुई हैं।

व्याख्या—पाँचों इन्द्रियाँ पंचभूतों से बनी कही जाती हैं। यह इन्द्रियाँ ही शरीर के आश्रित आत्मा को विभिन्न विषयों का ग्रहण कराती हैं। घ्राण अर्थात् नासिका का कार्य सूँघना और गन्ध ग्रहण करना है, इसके द्वारा आत्मा को गन्ध का ज्ञान होता है। रसना अर्थात् जिह्वा खाद्य पदार्थों का स्वाद ग्रहण करती है। नेत्र उपस्थित दृश्य को देखते हैं। त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। श्रोत्र अर्थात् कान शब्द को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह पाँचों इन्द्रियां आत्मा को गन्ध, रस, दृश्य, स्पर्श और शब्द का ज्ञान कराती रहती हैं।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ॥१३॥

सूत्रार्थ—पृथिवी=पृथिवी, आपः=जल, तेजः=अग्नि, वायुः=वायु, आकाशम्=आकाश, इति=यह पाँच, भूतानि=भूत कहे जाते हैं।

व्याख्या—यह पाँचों भूत परस्पर समवाय सम्बन्ध अर्थात् संयुक्त रूप से रहते हैं। यह पंचभूत बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होकर आत्मा को अपने-अपने गुण का ज्ञान कराने में समर्थ हैं। अब भूतों के गुणों का वर्णन करते हैं।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दः=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पाँचों, पृथिव्यादिगुणाः=पृथिवी आदि पंचभूतों के गुण हैं और, तदर्थाः=उन पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं।

व्याख्या—पाँच भूतों के पाँच गुण हैं। पृथिवी का गुण गन्ध है, जल का गुण रस है, अग्नि का गुण रूप है, वायु का गुण स्पर्श है और आकाश का गुण शब्द है। यह पाँचों गुण ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं— नासिका का विषय गन्ध, जिह्वा का विषय रस, नेत्र का विषय रूप, त्वचा का विषय स्पर्श और कान का विषय शब्द है। अब अगले सूत्र में बुद्धि का निरूपण किया जायगा।

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—बुद्धिः=बुद्धि, उपलब्धिः=प्राप्ति, ज्ञानम्=ज्ञान, इत्य नर्थान्तरम्=यह पर्यायवाची शब्द हैं।

व्याख्या—बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इन तीनों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। यह घट है, यह पट है इस प्रकार का ज्ञान कराने वाली वृत्ति बुद्धि का धर्म है और इसी को ज्ञान कहा जाता है। मैं 'घड़े को जानता हूँ' इस प्रकार का बोध 'उपलब्धि' है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। अब मन का लक्षण कहते हैं।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः=इन्द्रियों का अपने विषयों से जो सम्बन्ध है, उससे भिन्न ज्ञान की उत्पत्ति, मनसः=मन के, लिङ्गम्=लक्षण समझने चाहिये।

व्याख्या—आत्मा की प्रेरणा से ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध रूप, रस, गंध आदि गुणों के साथ समान ज्ञान होना ही विषय ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि मन को एक समय में दो ज्ञान नहीं हो सकते। जब गंध का ज्ञान होगा, तब अन्य गुणों का नहीं होगा, रूप का होगा तब गंध आदि का नहीं होगा। इस प्रकार एक समय में एक विषय का ज्ञान होना मन का लक्षण है। अब प्रवृत्ति का लक्षण कहते हैं।

प्रवृत्तिर्वाग् बुद्धि शरीरारम्भ इति ॥१७॥

सूत्रार्थ—वाग्बुद्धि शरीरारम्भः=वाणी, मन और शरीर से होने वाला कर्म, इति=यह, प्रवृत्तिः=प्रवृत्ति द्वारा ही होना समझना चाहिये।

व्याख्या—इच्छापूर्वक होने वाले शरीर आदि के कार्यों को प्रवृत्तिजनक समझना चाहिये। क्योंकि यह कार्य मन, वाणी और शरीर से होता है। जो कार्य केवल मन से होता है, उसे मानसिक कार्य कहते हैं, मन और वाणी दोनों के संयोग से होने वाला कर्म वाचिक है, तथा मन, इन्द्रिय और शरीर के संयोग से जो कार्य होता है, वह शारीरिक कहा गया है। जिस कर्म का फल सुख रूप हो, वह पुण्य कर्म है और जिसका फल दुःख रूप हो उसे पाप कर्म समझना चाहिये। इस प्रकार पुण्य और पाप भेद वाली दश वृत्तियाँ होती हैं। अब दोष का विचार करेंगे।

प्रवर्त्तना लक्षणा दोषः ॥१८॥

सूत्रार्थ—प्रवर्त्तना=प्रवृत्ति के, लक्षणा=लक्षण वाला, दोषः=दोष कहा गया है।

व्याख्या—धर्म या अधर्म के हेतु प्रवृत्ति का होना दोष है अर्थात् जिस प्रवृत्ति से धर्म या अधर्म कार्य की सिद्धि होती हो, उसे दोष मानना चाहिये। प्रवृत्ति के कारण रूप राग, द्वेष और मोह हैं। इनके होने पर ही धर्म या या अधर्म कार्यों में प्रवृत्ति होती है।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥१९॥

सूत्रार्थ—पुनः=बारम्बार, उत्पत्तिः=जन्म लेना, मरना, प्रेत्यभावः=प्रेत्यभाव कहा गया है।

व्याख्या—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जन्म लेना प्रेत्यभाव है। पुनर्जन्म या पुनरुत्पत्ति पर्यायवाची शब्द हैं। शरीर से इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध टूट जाने को प्रेत कहते हैं। पुनः जन्म लेने को प्रेत्यभाव अर्थात् मर कर जन्म लेना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा का शरीर से निकलना प्रयाण है और प्रयाण करने वाले को प्रेत कहते हैं और उस प्रेत का दूसरे शरीर से सम्बन्ध हो जाना प्रेत्यभाव है। अब फल का निरूपण करते हैं।

प्रवृत्तिदोष जनितोऽर्थः फलम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—प्रवृत्तिदोषजनितः=प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न हुआ, अर्थः=विषय, फलम्=फल है।

व्याख्या—सुख या दुःख की प्राप्ति को ही फल कहते हैं, इसकी उत्पत्ति प्रवृत्ति और दोष से होती है। धार्मिक प्रवृत्ति से किया गया कार्य सुख दायक और अधार्मिक प्रवृत्ति वाला कार्य दुःख उत्पन्न करने वाला होता है।

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥२१॥

सूत्रार्थ—बाधना=इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा, दुःखम्=दुःख का, लक्षणम्=लक्षण है।

व्याख्या—मन जिस किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहे और वह वस्तु न मिले तो उससे दुःख होता है। अब मोक्ष का निरूपण करते हैं—

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः ॥२२॥

सूत्रार्थ—तदत्यन्त विमोक्षः=उस दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही, अपवर्गः = मोक्ष है।

व्याख्या—दुःख के तीन भेद हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छुटकारा मिल जाय, वही मोक्ष है। इन दुःखों से छुटकारा तभी हो सकता है, जब जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाय और यह चक्र तभी समाप्त होगा जबकि प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जायगा। कुछ लोग शंका करते हैं कि सुषुप्ति को ही मुक्ति क्यों न मानले ? क्योंकि उसमें भी दुःखों से निवृत्ति हो जाती है तो इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति में दुःखों का आधार सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है, मुक्तावस्था में सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता। अब संशय का विवेचन करते हैं—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य व्यवस्थातश्चविशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥२३॥

सूत्रार्थ—समानानेकधर्मोपपत्तेः=समान तथा अनेक धर्म की प्राप्ति, विप्रतिपत्तेः= अप्राप्ति, च=और, उपलब्ध्यनुपलब्ध्य =उपलब्धि और अनुपलब्धि की, व्यवस्थातः=व्यवस्था होने से, विशेषापेक्षाः= विशेष धर्म के प्रत्यक्ष न होने से, विमर्शः=एक वस्तु में विपरीत ज्ञान का होना ही, संशय=संदेह है।

व्याख्या—एक ही वस्तु में समान धर्म के प्रत्यक्ष होने और उसके विशेष धर्म अप्रत्यक्ष रहने से उसी वस्तु में दो, परस्पर विरोधी भावों का उत्पन्न होना संशय अथवा भ्रम है। जैसे अँधेरे में रस्सी को

देखा और उसे सर्प के आकार का पाकर उसके सर्प होने का भ्रम हो गया। उस समय रस्सी के धर्म अप्रत्यक्ष हो जाते हैं और सर्प के लक्षण ही दिखाई देते हैं इसीलिये, सूत्रकार ने इस अवस्था को 'संशय' कहा है। अब प्रयोजन किसे कहते हैं, इसे अगले सूत्र में बताते हैं।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ॥२४॥

सूत्रार्थ—यम्=जिस, अर्थम्=अर्थ के, अधिकृत्य=अधिकार से, प्रवर्त्तते=प्रवृत्ति होती है, तत्=उस अधिकार को, प्रयोजनम्=प्रयोजन कहते हैं।

व्याख्या—ग्रहण और त्याग रूप प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली इच्छा ही अर्थ-अधिकार है। क्योंकि उस अर्थ अधिकार के द्वारा ही हानि या लाभ की प्राप्ति कराने से सम्बन्धित विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी को सूत्रकार ने प्रयोजन कहा है। अब दृष्टान्त का निरूपण करेंगे।

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धि साम्यं स दृष्टान्तः ॥२५॥

सूत्रार्थ—यस्मिन्=जिस, अर्थे=पदार्थ में, लौकिकपरीक्षकाणाम्=सांसारिक और परीक्षा करने वाले मनुष्य की, बुद्धि-साम्यम्=बुद्धि समान पाई जाय, सः=वह, दृष्टान्तः=दृष्टान्त है।

व्याख्या—सांसारिक तो सभी जीव हैं, परन्तु इस सूत्र में सांसारिक शब्द का विशेष प्रयोग इस अर्थ का सूचक है कि जिसको शास्त्र आदि का ज्ञान न हुआ हो और परीक्षक उसे कहा है जिसे सभी पदार्थों का ज्ञान हो। इस प्रकार सांसारिक और परीक्षक दोनों प्रकार के मनुष्य की बुद्धि जिस विषय में समान हो, उसे दृष्टान्त समझना चाहिये। अब, अगले सूत्र में सिद्धान्त का लक्षण बताते हैं।

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥२६॥

सूत्रार्थ—तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः=प्रमाण से सिद्ध हुए बाधा रहित निर्णय को, सिद्धान्तः=सिद्धान्त कहा जाता है।

व्याख्या—प्रमाण से सिद्ध हुआ निर्णय सिद्धान्त है। सिद्धांत तीन प्रकार के हैं—(१) तन्त्र सिद्धान्त, (२) अधिकरण, (३) अभ्युपगम इसमें तन्त्र सिद्धान्त दो प्रकार का है। इसका वर्णन अगले सूत्र में स्वयं सूत्रकार ने किया है।

सर्वतन्त्र प्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगम संस्थित्यर्थान्तर-भावात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—सर्वतन्त्र=सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र=प्रतितन्त्र, अधिकरण=अधिकरण और, अभ्युपगम=अभ्युपगम, संस्थिति-अर्थान्तर भावात्=सिद्धान्त के भेद हैं।

व्याख्या—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम ।यह चार भेद कहे हैं। सर्वतंत्र और प्रतितंत्र यह दोनों तन्त्र सिद्धान्त के भेद होने से सिद्धान्त तीन प्रकार का ही माना जाता है। अगले सूत्र में सर्वतन्त्र सिद्धान्त का निरूपण करेंगे।

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥२८॥

सूत्रार्थ—सर्वतन्त्राविरुद्धः=जिसकी किसी शास्त्र से विरुद्धता न हो और, तन्त्रे=किसी एक शास्त्र में, अधिकृतः=कहा जाय, वह, अर्थः=अर्थ, सर्वतन्त्रसिद्धान्तः=सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

व्याख्या—किसी शास्त्र से विरोध न हो और एक शास्त्र में कहा जाय, वह सर्वतन्त्र सिद्धांत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो उपदेश किसी एक शास्त्र में हो और अन्य शास्त्रों में न हो, परन्तु उस उपदेश का किसी भी शास्त्र में विरोध न हो, तो वह उपदेश सर्वमान्य होने से

सर्वतन्त्र सिद्धान्त समझना चाहिये। जैसे कहा जाय कि 'नेत्र से दिखाई देता है' किसी भी शास्त्र में इस कथन का विरोध नहीं मिलता, इसलिये नेत्र से दिखाई देना सर्वतंत्र सिद्धान्त है। अगले सूत्र में प्रतितंत्र सिद्धान्त का निरूपण कर तेहैं।

समानतन्त्र सिद्धः परतंत्रासिद्धः प्रतितन्त्र सिद्धान्तः ॥२६॥

सूत्रार्थ—समानतंत्रसिद्धः=एक शास्त्र द्वारा प्रतिपादित, परतन्त्रासिद्धः=दूसरे शास्त्र के असिद्ध अर्थ को, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः=प्रतितन्त्र सिद्धान्त समझना चाहिये।

व्याख्या—एक शास्त्र जिस अर्थ को प्रतिपादित करता हो परन्तु, अन्य शास्त्र उस अर्थ को अमान्य करें तो उस अर्थ को प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहेंगे। जैसे नैयायिक संसार की उत्पत्ति कर्मों से हुई मानते हैं, परन्तु, सांख्य शास्त्री वैसा न मानकर, कार्य को ही नित्य मानते हैं। यह प्रतितन्त्र सिद्धांत है।

अब अधिकरण सिद्धांत का लक्षण कहते हैं—

यत्सिद्धावन्य प्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धान्तः ॥३०॥

सूत्रार्थ—यत्सिद्धौ=जिसके सिद्ध होने पर, अन्य प्रकरण-सिद्धिः=दूसरे प्रकरण की सिद्धि होती हो, सः=वह, अधिकरण सिद्धान्तः=अधिकरण सिद्धान्त है।

व्याख्या—जिस उपदेश के सिद्ध हो जाने पर दूसरे विषय स्वयं सिद्ध हो जायँ, उसे अधिकरण सिद्धांत कहते हैं। जैसे शरीर और इन्द्रियों से आत्मा का पृथक् अस्तित्व है, यह बात देखने और स्पर्श करने से प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। यदि आत्मा शरीर और इन्द्रियों से पृथक् न

होता तो इन्द्रियों को अपने विषय का ज्ञान तो हो सकता था, परन्तु, जिस कार्य को अन्य इन्द्रियों ने ग्रहण कर रखा है, उसका ज्ञान कभी नहीं हो सकता था। इसे यों समझिये कि कोई व्यक्ति अपने नेत्र से एक वस्तु को देखता है और उसे हाथ से पकड़ कर कहता है कि जिसे देखा है, उसे उठाता हूँ। यदि आत्मा शरीर और इन्द्रियों से पृथक् न होता तो उसे दोनों इन्द्रियों के कर्म का ज्ञान एक साथ नहीं हो पाता यदि इसे और भी स्पष्ट करें तो जब मरण काल में आत्मा शरीर से निकल जाता है, उस समय शरीर इन्द्रियों के सहित निश्चेष्ट पड़ा रहता है और अधिक पड़ा रहे तो उसमें दुर्गंध आने लगती है और अन्त में वह सड़ जाता है। इससे भी यही सिद्ध हुआ कि आत्मा शरीर से पृथक् है—इसे अधिकरण सिद्धांत कहते हैं।

अब अभ्युपगम सिद्धांत की व्याख्या करते हैं—

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेष परीक्षणमभ्युपगम सिद्धान्तः ॥३१॥

सूत्रार्थ—अपरीक्षिताभ्युपगमात्=जिस पदार्थ की परीक्षा नहीं हुई उसे मान कर, तद्विशेष परीक्षणम्=उसको विशेष परीक्षा करने को, अभ्युपगमसिद्धान्तः=अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है।

व्याख्या—बिना परीक्षा किये हुए पदार्थ को सिद्ध मानकर उसकी विशेष परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धांत है। जैसे शब्द-द्रव्य है ऐसा मानकर यह परीक्षा करना कि शब्द रूप द्रव्य नित्य है या अनित्य है। इसमें शब्द की सत्ता स्वीकार करने के बाद उसके नित्य होने या अनित्य होने की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धांत समझना चाहिये।

अगले सूत्र में अवयवों का निरूपण करते हैं—

प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥३२॥

सूत्रार्थ — प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमन=प्रतिज्ञा, हेतु,

उदाहरण, उपनय और निगमन, अवयवाः=यह पाँच अवयव हैं।

व्याख्या—अनुमान वाक्य का एक देश अवयव कहा गया है, अवयव के पाँच भेद हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अगले सूत्र मे प्रतिज्ञा का विवेचन करते है।

साध्यनिर्द्देशः प्रतिज्ञा ॥३३॥

सूत्रार्थ—साध्यनिर्द्देशः=साध्य को बताने वाले वचनों को, प्रतिज्ञा=प्रतिज्ञा कहा जाता है।

व्याख्या—जिस वाक्य से पक्ष और साध्य का परस्पर विशेषण और विशेष भाव जाना जाये, वह प्रतिज्ञा है। अथवा जानने योग्य धर्म से धर्मी का निर्द्देश करना प्रतिज्ञा समझना चाहिये। जैसे, कहें कि शब्द नित्य है, आत्मा चैतन्य है— यह प्रतिज्ञा है।

अब हेतु का लक्षण बताते हैं—

उदाहरण साधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ॥३४॥

सूत्रार्थ—उदाहरण साधर्म्यात्=उदाहरण के समान धर्म से, साध्य साधनम्=साध्य को कहने वाले वाक्य को, हेतुः=हेतु कहते हैं।

व्याख्या—उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना हेतु है। इसे युक्ति भी कहते है। जैसे प्रतिज्ञा में शब्द को अनित्य बताया गया उसकी युक्ति यह देना कि शब्द उत्पत्तिवान है और जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं हो सकती। इस प्रकार उदाहरण से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करना हेतु अथवा युक्ति कहा जायगा।

अब वैधर्म्य हेतु का लक्षण कहते हैं—

तथा वैधर्म्यात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—वैधर्म्यात्=उदाहरण के विरुद्ध लक्षण होने से, तथा=साध्य को कहने वाले वाक्य वैधर्म्य हेतु कहे जाते हैं।

व्याख्या—उदाहरण के विरुद्ध धर्म से साध्य को सिद्ध करना वैधर्म्य हेतु है। जैसे शब्द उत्पन्न होने वाला होने से अनित्य कहा गया तो इसके विपरीत धर्म से जो उत्पन्न होने वाला नहीं है, वह नित्य होना चाहिये। इस प्रकार उदाहरण के विपरीत अर्थ से विपरीत हेतु की सिद्धि होती है। इसीलिये इसे वैधर्म्य हेतु कहा गया है।

अब, उदाहरण का विवेचन करेंगे—

साध्य साधर्म्यात्तद्धर्म भावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—साध्य साधर्म्यात्=साध्य की समानता से, तद्धर्म-भावी=साध्य के धर्म का प्रतिपादन करने वाले, दृष्टान्त=उदाहरण को, उदाहरणम्=समान धर्म वाला उदाहरण कहते हैं।

व्याख्या—साध्य के समान धर्म वाला होने से अन्य पदार्थ के धर्म की समता बताना उदाहरण है। जैसे उत्पन्न होने वाली वस्तु उत्पन्न धर्म वाली कही जाती है और उत्पन्न होने के बाद नष्ट भी हो जाती है, इसलिये वह अनित्य हुई। इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाली वस्तु के उदाहरण से साध्य का अनित्यत्व सिद्ध हुआ। इस प्रकार धर्मों का साध्य साधन भाव एक वस्तु में पाया जाना ही उदाहरण कहा जाता है। यह समान धर्मोदाहरण हुआ, अब वैधर्म्योदाहरण का लक्षण कहेंगे—

तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तद्विपर्य्ययात्=उसके विरुद्ध लक्षण से दृष्टान्त वाक्य को, विपरीतम्=वैधर्म्योदाहरण कहते हैं।

व्याख्या—साध्य के विपर्यय अर्थात् विपरीत लक्षण से जो उदाहरण होता है, उसे वैधर्म्योदाहरण कहा जाता है। जैसे घट, पट अनित्य हैं, क्योंकि वे उत्पन्न होने वाले हैं। जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, वे नित्य कहे जाते हैं। आकाश में उत्पत्ति धर्म का अभाव होने से घट, पट

के धर्म में विपरीत अनुमान लगाया जाता है। इस अनुमान को वैधर्म्योदाहरण कहा जायगा।

अब, उपनय की व्याख्या की जाती है—

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥३८॥

सूत्रार्थ—तथा इति=यह उसी प्रकार है, वा=अथवा, न तथा=यह उस प्रकार का नहीं, इति=इस प्रकार, उदाहरणपेक्षः=उदाहरण के आश्रय में रहे, साध्यस्य=साध्य के, उपसंहारः=सारांश को, उपनयः=उपनय कहा जाता है।

व्याख्या—यह उसी प्रकार है अथवा यह उस प्रकार नहीं है। इस प्रकार के उदाहरण से साध्य का सारांश कहना उपनय है। इसमें उपसंहार अथवा सारांश उदाहरण के अनुसार होता है।

अब निगमन का लक्षण बताते हैं—

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥३९॥

सूत्रार्थ—हेत्वपदेशात्=हेतु का उपदेश होने से, प्रतिज्ञायाः =प्रतिज्ञा के, पुनर्वचनम्=दुबारा कथन करने को, निगमनम्= निगमन कहा गया है।

व्याख्या—हेतु के कहे जाने से, प्रतिज्ञा का फिर कहा जाना निगमन है। जैसे, किसी ने कहा कि पर्वत में अग्नि है, यह कहना प्रतिज्ञा हुई। इस प्रतिज्ञा का हेतु पूछा गया तो उत्तर मिला कि धुँआ उठ रहा है, इससे समझा जाता है कि धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगी। जब कहा कि उदाहरण दो कि धुँए के होने से अग्नि का होना किस प्रकार सिद्ध होता है? तो उत्तर मिला कि रसोई अग्नि से बनती है और रसोई घर से धुँआ निकलता हुआ नित्य देखते हैं। इसमें धुँआ निकलना अग्नि की सिद्धि का हेतु है और रसोई घर की बात उदाहरण है, जहाँ

धुँआ है, वहाँ अग्नि अवश्य होगी, यह उपनय है और धुँए को देखकर पर्वत में फिर अग्नि का बताना निगमन है। अब तर्क का लक्षण कहेंगे।

अविज्ञाततत्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्व ज्ञानार्थमू-हस्तर्कः ॥४०॥

सूत्रार्थ—अविज्ञाततत्वे अर्थे=जिस पदार्थ का वास्तविक रूप मालूम न हो, तत्वज्ञानार्थम्=तत्व ज्ञान के निमित्त, कारणोपपत्तितः=कारण की उपपत्ति से, ऊहः=कार्य की जो कल्पना की जाती है, वह, तर्कः=तर्क कहा जाता है।

व्याख्या—किसी पदार्थ का वास्तविक रूप अज्ञात है, परन्तु तत्व ज्ञान के लिये, उसकी सिद्धि में जिन-जिन कारणों की कल्पना की जाय, उस कल्पना को तर्क कहते हैं।

अब निर्णय की व्याख्या करेंगे—

विमृष्यपक्ष प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥४१॥

सूत्रार्थ—विमृष्य=संशय के उत्पन्न होने पर, पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्=पक्ष और विपक्ष के द्वारा, अर्थावधारणम्=पदार्थ का निश्चय स्वीकार किया जाना, निर्णय कहा गया है।

व्याख्या—किसी पदार्थ में संशय उत्पन्न हो जाय और उसे पक्ष तथा विपक्ष वाली युक्तियों से यथार्थ रूप में समझ लिया जाय, वह निर्णय है। जैसे रात में रस्सी देखकर उसमें सर्प का संशय हुआ तो प्रकाश करके देखा और उसके पक्ष-विपक्ष वाले लक्षणों से यह जान लिया गया कि यह सर्प नहीं, रस्सी है। रस्सी के इस यथार्थ ज्ञान को निर्णय कहते हैं।

॥ प्रथमोऽध्यायः—प्रथमाह्निक समाप्तः ॥

प्रथमोध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नपक्ष प्रतिपक्ष परिग्रहोवादः ॥१॥

सूत्रार्थ—सिद्धान्ता विरुद्धः=सिद्धान्त के अविरुद्ध प्रमाण तर्क साधनोपलम्भः=प्रमाण और तर्क से साधन अथवा उपलम्भ हो उस, पंचावयवोपपन्न=पाँच अवयवों से युक्त, पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहः=पक्ष और विपक्ष की सिद्धि का प्रकाश करने वाले वाक्य समूह को, वादः=वाद कहा जाता है।

व्याख्या—एक पदार्थ के विरोधी धर्मों के उल्लेख द्वारा प्रमाण तर्क, साधन और उसकी कमियाँ बतलाने से तत्व के पक्ष, विपक्ष में प्रतिज्ञा आदि अनुमान के पाँचों अवयवों के आधार से प्रश्नोत्तर करने को वाद कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि आत्मा है और दूसरा कहे कि आत्मा नहीं है। अब एक तो आत्मा के न होने में अपनी युक्तियाँ देता है और दूसरा आत्मा के होने में तर्क आदि प्रस्तुत करता है, इसे 'वाद' कहना चाहिये। परन्तु, दो विरुद्ध वस्तुओं में विरुद्ध धर्मों का कहा जाना 'वाद' नहीं माना जा सकता। जैसे एक ने कहा 'आत्मा नित्य है' दूसरे ने कहा शरीर अनित्य है तो यह दो भिन्न पदार्थ नित्यत्व और अनित्यत्व विभिन्न धर्म में विद्यमान होने से वाद का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि एक वस्तु में तो परस्पर विरोधी धर्म रहेंगे नहीं और दो विरुद्ध धर्मवाली वस्तुओं का कथन किसी प्रकार के विवाद को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये एक वस्तु की सिद्धि-असिद्धि के लिये खींचतान करना ही 'वाद' कहा जाता है। अब जल्प की व्याख्या करेंगे—

यथोक्तोपपन्नश्छलजाति निग्रह स्थान साधनोपालम्भो जल्पः ॥२॥

सूत्रार्थ—यथोक्तोपपन्नः=प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भ के होने पर, छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपलम्भः =छल,जाति और निग्रह स्थानों द्वारा अपने पक्ष को सिद्ध करना और दूसरे पक्ष का निषेध करना, जल्पः=जल्प कहा जाता है।

व्याख्या—प्रमाण, तर्क आदि साधनों से युक्त छल, जाति और निग्रह स्थानों के आक्षेप द्वारा अपने-अपने पक्ष का समर्थन करना जल्प है। प्रश्न उठता है कि वाद के भी यही लक्षण हैं फिर जल्प का पृथक् भेद क्यों कहा ? तो समाधान किया जाता है कि वाद में हार-जीत का प्रश्न नहीं होता, उसमें तो यथार्थ बात का निर्णय किया जाता है। परन्तु जल्प में जय और पराजय का उद्देश्य निहित होता है, इसलिये, इसमें छल आदि से भी अपने पक्ष की सिद्धि करने की चेष्टा की जाती हैं। वाद में जय-पराजय का उद्देश्य न होने से छल आदि हथकण्डों से काम नहीं लिया जाता इसलिये, वाद के द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय करना सरल होता है। इसके विपरीत, जल्प में सत्य-असत्य के निर्णय की चेष्टा नहीं की जाती, बल्कि असत्य पक्ष की भी सिद्धि के लिये छल-कपट, मिथ्या भाषण आदि सब प्रकार के हथकण्डों का प्रयोग किया जाता है। वाद और जल्प का यह भेद स्पष्ट है।

अगले सूत्र में वितण्डा का वर्णन करेंगे—

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥३॥

सूत्रार्थ—प्रतिपक्ष स्थापना हीनः=एक दूसरे के पक्ष की सिद्धि से रहित, स=उस जल्प को, वितण्डा=वितण्डा कहा गया है।

व्याख्या—जिसमें किसी पक्ष वाले का कोई भी सिद्धान्त न हो और प्रत्येक पक्ष अपने प्रतिपक्ष को हराने के लिये छल आदि से उसके मत का खण्डन करे, उस विवाद को वितण्डा कहते हैं।

अब हेत्वाभाव का विवेचन करते हैं—

सव्यभिचार विरुद्ध प्रकरण समसाध्य समातीत काला हेत्वाभासः ॥४॥

सूत्रार्थ—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्य सम और अतीत काल यह पाँच हेत्वाभाव कहे गये हैं।

व्याख्या—हेत्वाभास के पाँच प्रकार हैं। विशेष रूप से हेत्वाभास वह है, जिसमें हेतु न हो और जो वास्तविक ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा परम्परा से समर्थित अनुमिति का बाधक हो।

अब सव्यभिचार किसे कहते हैं, यह बताया जाता है—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥५॥

सूत्रार्थ—अनैकान्तिकः = अनैकान्तिक, सव्यभिचारः = सव्यभिचार कहा जाता है।

व्याख्या—अनैकान्तिक व्यभिचार सहित को सव्यभिचार हेतु कहा गया है। यथार्थ में, अव्यवस्था को व्यभिचार कहा जाता है। प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये ऐसा हेतु प्रस्तुत करना जो प्रतिज्ञा को छोड़कर अन्य स्थान पर भी चला जाय, सव्यभिचार कहा जायगा। जैसे कोई कहे कि शब्द स्पर्श वाला न होने से नित्य है, स्पर्श वाला घट या पट अनित्य देखा जाता है, तो शब्द स्पर्श वाला न होने से नित्य के विपरीत धर्म वाला होना चाहिये, इसलिये नित्य है। इस दृष्टान्त में स्पर्शपना और अनित्यपना साध्य साधन भूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार कहें कि जो स्पर्श-रहित है वह नित्य है, जैसे आत्मा, तो यह भी ठीक नहीं है,

क्योंकि बुद्धि भी स्पर्श-रहित है,परन्तु,वह नित्य नहीं है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार उपस्थित होने से स्पर्शपना न होना यह हेतु सव्यभिचार है।

अब विरुद्ध हेत्वाभाव का लक्षण कहते हैं—

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—सिद्धान्तम्=साध्य के, अभ्युपेत्य=भाव पूर्वक कहने पर भी, तद्विरोधी=साध्य के अनुकूल न होना, विरुद्धः=विरोधी कहा जाता है।

व्याख्या—साध्य के प्रमाण में उपस्थित होकर उसी का विरोध करने वाले हेतु को 'विरुद्ध हेतु' कहते हैं। जैसे कोई कहे कि 'पर्वत में अग्नि है' प्रमाण पूछा तो उत्तर दिया कि 'पर्वत स्रोत वाला है।' परन्तु स्रोत अग्नि के विरुद्ध लक्षण वाला है इसलिये उससे अग्नि की सत्ता सिद्ध न होकर अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार यहाँ अग्नि की सिद्धि न करने वाली हेतु होने से स्रोत को विरुद्ध हेतु समझना चाहिये।

अब प्रकरणसम का लक्षण कहेंगे—

यस्मात्प्रकरण चिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—निर्णयार्थम्=साध्य का निश्चय पूर्वक, अपदिष्टः=कथन किया जाने पर भी, यस्मात्=जिसके द्वारा, प्रकरण चिन्ता=प्रकरण को सिद्ध करने की चिन्ता रहे, स=वह, प्रकरण समः='प्रकरण सम' कहा जाता है।

व्याख्या—साध्य को निश्चयपूर्वक कहने पर भी जिससे प्रकरण की सिद्धि न होती हो उसे प्रकरण-सम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके सत्य या असत्य होने में विश्वास न हो और वही वस्तु विवाद में

प्रमाण रूप से प्रस्तुत करनी हो, तो वह 'प्रकरण-सम' कहना होगा। जैसे कोई कहे कि शब्द अनित्य है और उसे अनित्य होने में युक्ति दे कि शब्द उत्पत्तिवान है, इसलिये अनित्य है तो यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है कि शब्द उत्पत्तिवान है या नहीं ! इसलिये, यहाँ शब्द के अनित्यत्व में उत्पत्तिवान् होने की युक्ति को प्रकरण-सम कहा जायगा।

अगले सूत्र में साध्य सम का निरूपण करते हैं—

साध्य विशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—साध्यत्वात् = साध्यत्व होने से, साध्य विशिष्टः =साध्य के समान विशेषता वाला हो उसे, साध्यसमः=साध्य सम हेत्वाभास कहा जाता है।

व्याख्या—साध्य हेतु अथवा साध्य के समान हेतु को साध्य-सम कहते हैं। अर्थात् साध्य के समान, असिद्ध हेतु साध्य-सम है। जैसे कोई कहे कि छाया द्रव्य है और उसका हेतु पूछने पर कहा कि वह गतिमान है। परन्तु छाया गति वाली वस्तु है या नहीं यह बात भी किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध होनी चाहिये। इसलिये यहाँ छाया को द्रव्य बताकर उसे गति वाली कहना. साध्य सम हेत्वाभास है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी असिद्ध वस्तु के प्रमाण में असिद्ध वस्तु का ही उदाहरण देना साध्य सम कहा जाता है। क्योंकि प्रथम तो साध्य का सिद्ध होना ही विवाद-ग्रस्त था, फिर उसमें प्रमाण भी विवादग्रस्त ही दिया तो साध्य के समान ही हेतु भी प्रमाणित करना होगा। इसीलिये इसे 'साध्य-सम' कहा गया है।

अब कालातीत हेत्वाभास का निरूपण करते हैं।

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—कालात्यापदिष्टः=समय के व्यतीत होने पर जिस

हेतु का कथन करें वह हेतु, कालातीत:=कालातीत कहा जाता है।

व्याख्या—जिस हेतु में काल का अन्तर हो अथवा जिसमें काल का अभाव हो या समय बीतने पर उपस्थित किया जाय वह कालातीत है। जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है और उसके नित्य होने में युक्ति दी कि नेत्र और प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने पर घड़ा दिखाई देता है, प्रकाश न हो तो घड़ा दिखाई नहीं दे सकता, परन्तु प्रकाश के अभाव में घड़ा नष्ट नहीं होता, वह ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है, इसी प्रकार शब्द भी नित्य है, जब मुख से बोलते हैं, तब वह उत्पन्न होता है, बाद में नहीं होता। परन्तु, शब्द के नित्य होने में यह युक्ति योग्य नहीं है। क्योंकि रूप का ज्ञान प्रकाश के साथ ही हो सकता है, परन्तु, शब्द मुख से निकलने के बाद, चुप हो जाने पर भी कालान्तर में दूर के मनुष्यों को सुनाई देता है। इसलिये इस हेतु को कालातीत हेत्वाभाव कहा गया है।

अगले सूत्र में छल की व्याख्या की जाती है—

वचन विघातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—अर्थ विकल्प-उपपत्त्या=वाक्य कहने वाले के भाव से विरुद्ध अर्थ करके, वचन विघात:=वाक्य का खण्डन करना, छलम्=छल कहा जाता है।

व्याख्या—वाक्य कहने वाले का प्रयोजन कुछ हो परन्तु, उसका अर्थ उसके विपरीत कर दिया जाय, उसे छल कहते हैं। जैसे कोई कहे कि यह बम्बा है। कहने वाले का तात्पर्य नहर के बम्बे से है, परन्तु, यदि वहाँ नल के बम्बे के रूप में प्रयुक्त करने से अपना कार्य बनता हो तो कह दें कि अमुक ने बम्बे का प्रयोग नल के लिये किया है। इस प्रकार का हेतु छल कहा जाता है।

अब छल के भेद अगले सूत्र में कहेंगे—

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचार-च्छलञ्चेति ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—वाक्छलम्=वाणी का छल, सामान्यच्छलम्=सामान्य प्रकार का छल, च=और, उपचारच्छलम्=उपचार छल, इस प्रकार, तत्=वह छल, त्रिविधं इति=तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या—छल के तीन प्रकार माने गये हैं—(१) वाक् छल, (२) सामान्य, (३) उपचार। इनका प्रयोग वे लोग करते हैं जो अपने पक्ष को सिद्ध करने में तो समर्थ नहीं होते, परन्तु, छल के द्वारा शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करना चाहते हैं। सूत्रकार ने अगले सूत्र में वाक्छल का लक्षण बताया है।

अविशेषाभिहितेऽर्थेवक्तुरभिप्रायादर्थान्तर कल्पना वाक् छलम् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—अविशेष-अभिहिते-अर्थे=साधारण शब्दों के द्वारा अभिप्राय कथन करने पर, वक्तुः=कहने वाले के, अभिप्रायात्=अभिप्राय की, अर्थान्तर कल्पना=विरुद्ध अभिप्राय वाली कल्पना का नाम, वाक्छलम्=वाक् छल समझना चाहिये।

व्याख्या—जहाँ वक्ता साधारण शब्दों में अपने अभिप्राय को प्रकट करे, परन्तु उसके उस अभिप्राय का उल्टा अर्थ निकाला जाय, वही वाक्छल कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि मेरे पास नव वस्त्र है, ऐसा कहने से उसका अभिप्राय नये वस्त्र से है, परन्तु, उसका अर्थ नौ वस्त्र कहना वाक्छल है। क्योंकि नव का अर्थ नया और नौ दोनों ही हैं। अब सामान्य छल का लक्षण कहेंगे।

सम्भवतोऽर्थस्याति सामान्य योगाद्संभूतार्थ कल्पना सामान्यच्छलम् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—अतिसामान्ययोगात्=अत्यन्त सामान्य का योग होने से, सम्भवत:=जो अर्थ हो सकता है उसके प्रति,असम्भूतार्थ =जो अर्थ नहीं हो सकता उसकी, कल्पना=कल्पना करना ही, सामान्य छलम्=सामान्य-छल समझना चाहिये।

व्याख्या—अत्यन्त सामान्य शब्दों के संयोग से जो अर्थ निकल सकता है, उसका उस प्रकार अर्थ न करके, असंभव अर्थ करना सामान्य छल है। जैसे कोई कहे कि 'यह ब्रह्मचारी विद्या और विनय से सम्पन्न है' उसका अर्थ करे कि 'यह ब्रह्मचारी विद्या और विनय, सम्पत्ति वाला है। इस प्रकार अभीष्ट अर्थ को तोड़-मरोड़ कर विपरीतार्थ कर देना सामान्य छल कहा जाता है।

अब उपचार छल की व्याख्या करेंगे—

धर्मविकल्प निर्देशेऽर्थ सद्भाव प्रतिषेध-उपचारच्छलम् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—धर्म-विकल्प-निर्देशे=धर्म विकल्प का निर्देश करने पर, अर्थ सद्भाव प्रतिषेध:=वक्ता के प्रयोजन वाले अर्थ का निषेध करना, उपचार छलम्=उपचार छल कहा गया है।

व्याख्या—वक्ता अपने वाक्य का जो अभिप्राय रखता हो, उसके उस अभिप्राय को, धर्म-विकल्प का कथन करने पर, काटने की चेष्टा करना उपचार छल है। जैसे कोई कहे कि न्यायालय की बुलाहट है, इसका तात्पर्य हुआ कि न्यायालय में जो अधिकारी आदि हैं, वे बुला रहे हैं। परन्तु उसका खण्डन करते हुए कहना कि न्यायालय जड़ है उसकी

बुलाहट नहीं हो सकती। इसलिये यह कहना मिथ्या है। इसी को उपचार छल कहते हैं।

वाक् छलमेवोपचारच्छलंतद्‌विशेषात् ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—तद्विशेषात्=कल्पना की विशिष्टता न होने से, उपचारच्छलम्=उपचार छल, वाक्छलम्=वाक् छल यह दोनों, एवम्=एक ही समझने चाहिये।

व्याख्या—वाक्छल और उपचार छल में कल्पना का कोई भेद नहीं है, इसलिये उन दोनों को एक जैसा ही समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विरुद्ध अर्थ-ग्रहण से उपचार छल बनता है, उसी प्रकार वाक्छल भी बनता है। इसमें वादी-प्रतिवादी की कथन शैली में ही किंचित् भेद होता है। परन्तु, पूर्व पक्ष का कहना है कि—

न तदर्थान्तर भावात् ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—तत्-अर्थ-अन्तर=वाक्छल और उपचार छल के अर्थ में भेद, भावात्=होने से, वे दोनों, न=एक नहीं माने जा सकते।

व्याख्या—वाक्छल और उपचार छल के द्वारा वक्ता के अभिप्राय को मिथ्या सिद्ध करना एक नहीं है। क्योंकि, वाक् छल में अनेक अर्थ वाले शब्द से वक्ता के भाव के विपरीत भावों को लेकर उसका खण्डन करते हैं। परन्तु उपचार छल में पदार्थ के अस्तित्व में जो विशेष सम्बन्ध रखने वाले गुण हैं, उनके द्वारा उस पदार्थ के अस्तित्व का अभाव दिखाकर वक्ता के पक्ष का खण्डन किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक्-छल और उपचार छल पृथक्-पृथक् हैं।

अविशेषे वायत्किंचिञ्चत् साधर्म्यादिकच्छल प्रसङ्गः ।। १७ ।।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, यत्किञ्चित्=केवल साधर्म्य होने से,

अविशेषे=एक ही मान लिये जाँय तो, एकच्छल प्रसङ्गः= एकच्छल वाद का प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या—यदि इन दोनों में कुछ भेद अथवा विशेषता न मानी जायगी तो तुलनात्मक दृष्टि से दोनों एक ही रह जायँगे। तो फिर उसका अलग-अलग वर्णन करना भी व्यर्थ था। यदि यह युक्ति छल के इन दो भेदों को समान धर्म वाला मानकर एक ही बताती है तो इससे तीन की अपेक्षा दो भेद ही रह जायँगे और फिर उन दो भेदों में भी साधर्म्यत्व मिलने पर एक ही प्रकार रह जायगा, तो भेद रहेगा ही नहीं। इस प्रकार एक का खण्डन होने से दूसरे का भी खण्डन हो जायगा।

साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—साधर्म्य वैधर्म्याभ्याम्=साधर्म्य और विरुद्ध धर्म से किये जाने वाले, प्रत्यवस्थानम्=खण्डन को, जातिः=जाति कहा गया है।

व्याख्या—समान धर्म और विरुद्ध धर्म के द्वारा जो खण्डन किया जाता है, उसे जाति कहते हैं। क्योंकि जो साध्य प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये अनुकूल हेतु प्रयोग में लाया जाता है, उसे वैधर्म्य हेतु कहते हैं। अब निग्रह स्थान कहते हैं—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रह स्थानम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—विप्रतिपत्तिः=विपरीत ज्ञान की प्राप्ति, च= और, अप्रतिपत्ति=कहे हुए का न समझना, निग्रह स्थानम्= निग्रह स्थान समझना चाहिये।

व्याख्या—किसी के कहे हुए उपदेश को न समझना अथवा उसका उलटा अर्थ समझना यह निग्रह स्थान कहा गया है। किसी की बात का उत्तर न देना भी निग्रह स्थान ही है।

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थान वहुत्वम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—तद्विकल्पात्=समान धर्म आदि दोष और विपरीत ज्ञान को उत्पन्न कराने वाले लक्षणों की विभिन्नता से, जातिनिग्रहस्थान वहुत्वम्=जाति और निग्रह स्थान भी अनेक हैं।

व्याख्या—साधर्म्य और वैधर्म्य के अनेक प्रकार होने से और युक्तियों के विरोध से निग्रह स्थान और जाति अनेक प्रकार की हैं। साधर्म्य आदि दोषों के कारण जातियाँ चौबीस प्रकार की मानी गयी हैं। प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं और वे एक दूसरे से मिलते-जुलते भी होते हैं और परस्पर प्रतिकूल भी होते हैं। जैसे मनुष्य और पशु में प्राण समान रूप से है, परन्तु, आकार-प्रकार भेद तो है ही, साथ ही मनुष्य बुद्धिमान है और पशु में बुद्धि नहीं होती। इसी प्रकार मनुष्य-मनुष्य भी न्यून या अधिक बुद्धि वाले होते हैं। अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहा जाता है और दूसरे के प्रश्न का उत्तर न देना, दूसरे की बात न समझना या उसका विपरीत अर्थ समझना आदि अप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार निग्रह स्थान भी अनेक होते हैं।

॥ प्रथमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निक समाप्तः ॥

ि,तीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

समानानेक धर्माध्यवसादन्यतरधर्म्याध्यवसायाद्वान संशयः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—समानानेक धर्माध्यवसायात्=समान और अनेक धर्म के अध्यवसाय से, वा=अथवा, अन्यतर धर्म्याध्यवसायात्=दोनों में से किसी एक धर्म के अध्यवसाय से, संशयः=सन्देह, न=नहीं होता।

व्याख्या—समान और अनेक धर्मों का अथवा दो में से एक धर्म का ज्ञान होने से सन्देह नहीं होता। इस सूत्र के तीन अर्थ लिये जाते हैं—(१) धर्म का ज्ञान होने से धर्मी में सन्देह नहीं रहता, क्योंकि धर्म और धर्मी भिन्न पदार्थ हैं। 'जैसे गाय सींग वाली, पूँछ के अन्त में बाल वाली, गले में लटकते हुए चमड़े वाली होती है'—गाय के इस धर्म का ज्ञान हो तो गाय को देखते ही उसे पहिचान लिया जायगा, फिर उसमें सन्देह नहीं रह सकता। (२) अवधारण से अनवधारण रूप में सन्देह नहीं रह सकता। क्योंकि कारण और कार्य समान रूप से ही होते हैं। इसलिये, कारण को देखकर कार्य के अनुमान में सन्देह नहीं रहता। (३) दो में से एक के धर्म का निश्चय हो जाने पर भी सन्देह नहीं रहता। जैसे दो वस्तु समान लक्षण वाली हैं तो एक के लक्षण ज्ञान से दूसरी की पहिचान होजायगी। जैसे गाय के लक्षण का ज्ञान है और जङ्गल में नील गाय देखें तो तुरन्त उसका नील गाय होना समझ में आ जायगा।

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—विप्रतिपत्ति=विप्रतिपत्ति, च=और, अव्यवस्था-ध्यवसायात्=अव्यवस्था के अध्यवसाय से भी संदेह नहीं रहता।

व्याख्या—केवल विप्रतिपत्ति अथवा अव्यवस्था मात्र से भी सन्देह नहीं रहता। परन्तु, विप्रतिपत्ति का ज्ञान होना अर्थात् यह जान लेना कि यह विपरीत ज्ञान था, उसमें सन्देह उपस्थित हो जायगा। इसी प्रकार अव्यवस्था के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—च=और, विप्रतिपत्तौ=विरोध से अथवा, सम्प्रतिपत्तेः मान लेने से भी संशय नहीं रहता।

व्याख्या—मान लेने या उसकी विशिष्टता का निश्चय हो जाने से संशय नहीं रहता, इसी निश्चयात्मक ज्ञान का नाम सम्प्रतिपत्ति है। जैसे एक विवाद का निर्णय करने वाले को दोनों पक्षों का मत सुन लेने पर किसी अर्थ विशेष के विरोध करने और उसे मान लेने का ज्ञान हो जाता है, तब वह यथार्थ क्या है ? इसे समझने में समर्थ हो जाता है, और निश्चयपूर्वक अपना निर्णय दे देता है। उसी निर्णय को सम्प्रतिपत्ति कहा जायगा। परन्तु, जिसे दोनों पक्षों के वाद का ठीक ज्ञान नहीं, उसको विपरीतता के कारण संशय हो सकता है। जिसे पूर्ण ज्ञान है उसे विप्रतिपत्ति अर्थात् मिथ्या विरोध भी संशय में नहीं डाल सकता। इसलिये विप्रतिपत्ति को संशय का कारण नहीं मान सकते। अगले सूत्र में प्राप्ति, अप्राप्ति, अव्यवस्था के संशय का कारण होने में दोष का दिग्दर्शन करायेंगे—

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—च=और, अव्यवस्था=प्राप्ति आदि की अव्य-

वस्था में संशय नहीं हो सकता, क्योंकि, अव्यवस्थायाः=वह अव्यवस्था, आत्मनि=अपने स्वरूप में, व्यवस्थितत्वात्=व्यवस्थित है।

व्याख्या—अव्यवस्था अपने स्वरूप में स्थित है, इसलिये प्राप्ति आदि की अव्यवस्था सन्देह का कारण नहीं हो सकती। किसी वस्तु के अस्तित्व में सन्देह होने का ज्ञान अथवा शून्य के प्रति सन्देहात्मक ज्ञान संशय को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि संशयात्मक ज्ञान को अपने अस्तित्व में भी संशय का कारण माना जाय तो पहिले उसे शून्य मानना होगा, जिससे वह किसी का कारण हो सके। परन्तु ऐसा न होने से अव्यवस्था संशय का कारण नहीं हो सकती। अब समान धर्म का निरूपण करते हैं।

तथाऽत्यन्त संशयस्तद्धर्म सातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—तथा=और, तद्धर्म सातत्योपपत्तेः=समान धर्म की सदा उपपत्ति होने के कारण, अत्यन्तसंशयः=अत्यन्त सन्देह की प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—संशय के समय समान धर्म, विशिष्ट धर्म वाले के द्वारा ग्रहण होने से, अकेला ही ग्रहण नहीं हो सकता। इस प्रकार समान धर्म रूप कारण के विद्यमान रहने पर भी, उनसे उत्पन्न संशय सदा बना रहेगा। परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसलिये समान धर्म को संशय का कारण नहीं कह सकते। अब पूर्व-पक्ष का समाधान करते हैं—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात्संशये नाऽसंशयो नात्यन्त संशयोवा ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—तद्विशेषापेक्षात्=उस विशेष धर्म की अपेक्षा से, यथोक्त=उस कहे गये, अध्यवसायात्=निश्चय से, एव=ही,

संशये=संशय की प्राप्ति होने पर, असंशयः=संशय-रहित, न=नहीं होता, वा=अथवा, अत्यन्तसंशयः=अत्यन्त संशय भी, न=नहीं रहता।

व्याख्या—संशय का उत्पन्न न होना अथवा उसके अस्तित्व का खण्डन किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। क्योकि, केवल समान अथवा विशिष्ट ज्ञान से संशय उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि इसका प्रमाण माँगें तो उत्तर यह है कि जिस सूत्र में समान धर्म के ज्ञान को संशयजनक कहा है, उसमें समान धर्ममात्र का ज्ञान संशयात्मक नहीं हो सकता। संशय तो समान धर्म के ज्ञान और धर्म विशेष की अपेक्षा का अर्थात् प्रत्येक विशेषण में जानने और नये विशेषण के जानने की इच्छा को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विशेष धर्म के प्राप्त न होने में उसके प्राप्त होने की इच्छा होती है, परन्तु प्राप्त हो जाने पर नहीं होती, क्योंकि, विशेष धर्म जब प्रत्यक्ष हो जाता है, तब संशय का प्रश्न ही नहीं उठता। अब, संशय की परीक्षा को दूसरे पदार्थों की परीक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं—

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तर प्रसङ्गः ॥७॥

सूत्रार्थ—यत्र=जहाँ (जिस पदार्थ के सम्बन्ध में), संशयः= संदेह हो, तत्र=वहाँ, एवं=संशय की परीक्षा के समान ही, उत्त-रोत्तर=प्रश्नोत्तर का एक के बाद दूसरा, प्रसङ्गः=प्रसङ्ग उप-स्थिति होता है।

व्याख्या—जिस-जिस शास्त्र अथवा विवाद में प्रयुक्त वाक्यों में संदेह करके परीक्षा की जाय, वहाँ यदि संदेह का निषेध होता हो तो इसी प्रकार समाधान किया जा सकता है। इसलिये सब से पहले संदेह की परीक्षा का आदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ संदेह होता है, वहाँ-वहाँ प्रश्नोत्तर करके परीक्षा की जाती है। इससे सिद्ध

होता है कि प्रश्नोत्तर और परीक्षण को देखकर प्रत्येक मनुष्य संशय कर सकता है। इसलिये संशय को ही परीक्षा का कारण मानना चाहिये। यदि संशय न हो तो परीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये पहिले संशय की ही परीक्षा का विधान हुआ। अब प्रमाण-सामान्य की परीक्षा करेंगे।

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥८॥

सूत्रार्थ—त्रैकाल्यासिद्धेः=प्रमाण को सिद्ध करने वाले तीनों कालों में न होने से, प्रत्यक्षादीनाम्=प्रत्यक्ष आदि को, अप्रामाण्यम्=प्रमाण के योग्य नहीं कह सकते।

व्याख्या—प्रमाण के द्वारा प्रमेय को तीनों काल में भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रमा के कारण नहीं हो सकते। प्रत्येक प्रमाण का ज्ञान इन तीन प्रकारों से ही हो सकता है—(१) प्रमेय के ज्ञान से पहिले प्रमाण का ज्ञान हो, (२) प्रमेय का ज्ञान करने के बाद प्रमाण का ज्ञान हो और, (३) प्रमाण तथा प्रमेय का ज्ञान साथ-साथ हो जाय। विपक्षी की युक्ति है कि प्रत्यक्ष प्रमाण त्रिकाल में प्रमाण को नहीं पाता। इसको विपक्षी ने अगले सूत्र में सिद्ध किया है—

पूर्वंहिप्रमाणसिद्धौनेन्द्रियार्थ सन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥९॥

सूत्रार्थ—हि=अवश्य ही, पूर्वम्=प्रमा से पूर्व, प्रमाण-सिद्धौ=प्रमाण की सिद्धि न होने से, इन्द्रियार्थ सन्निकर्षात्=इन्द्रियों के विषय सम्बन्ध से, प्रत्यक्षोत्पत्तिः=प्रत्यक्ष प्रमा का उत्पन्न होना, न=नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि प्रमेय के ज्ञान से पहिले प्रत्यक्ष-प्रमाण का ज्ञान मानें तो इन्द्रिय और उसके विषय से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि प्रमेय को ज्ञान से पहिले मानते हैं। तथा जो इन्द्रिय के विषय सम्पर्क से उत्पन्न न हो, उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। जब वह प्रत्यक्ष के धर्म में

आ ही नहीं सकता तो उसे प्रत्यक्ष कहना ही विरुद्ध बात है। इससे यही मानना होगा कि जिस वस्तु की प्रत्यक्ष सत्ता न हो, उसके साथ करण आदि कारकों का सम्बन्ध नहीं हो सकता, इस लिये प्रमाण धर्म की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों रही। इस स्थिति में तो प्रमाण से पहिले प्रमा को मानना पड़ेगा। परन्तु, यह प्रत्यक्ष के धर्म के विपरीत होने से प्रमाण की सिद्धि नहीं होती।

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—पश्चात्=प्रमा के पश्चात्, सिद्धौ=प्रमाण की सिद्धि मान लेने पर, प्रमाणेभ्य:=प्रमाण के द्वारा, प्रमेयसिद्धिः =प्रमेय की सिद्धि, न=असम्भव है।

व्याख्या—यदि यह मान लिया जाय कि प्रमेय ज्ञान के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान उत्पन्न हुआ है तो प्रमाण के द्वारा प्रमेय को सिद्ध नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि प्रमेय के ज्ञान के लिये प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि प्रमाण के बिना ही प्रमेय की सिद्धि हो जाय तो प्रमाण से क्या लाभ? इसलिये प्रमेय ज्ञान के पश्चात् प्रत्यक्ष प्रमाण की उत्पत्ति की बात कहना ठीक नहीं है। प्रमाण की दृढ़तापूर्वक सिद्धि के लिये है यह कहना भी निरर्थक है। क्योंकि, वस्तु की योग्यता अथवा धर्म बताने वाले साधन को प्रमाण कहते हैं। यदि बिना साधन के ज्ञान की उत्पत्ति मानने लगें तो अंधे को भी बिना नेत्र के दिखाई पड़ जाना चाहिये। यदि कहो कि नेत्र के बिना, रूप का ज्ञान नहीं हो सकता तो साधन के बिना ज्ञान ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? इससे सिद्ध हुआ कि प्रमेय-ज्ञान के पश्चात् प्रमाण ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थं नियतत्वात्क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥११॥

सूत्रार्थ--युगपत्सिद्धौ=एक ही समय में दोनों की सिद्धि

होने पर, प्रत्यर्थं नियतत्वात्=प्रत्येक विषय में नियत होने से, बुद्धीनाम्=विवेक बुद्धी की, क्रमवृत्तित्व=क्रमवृत्तित्व का, अभावः =अभाव होना स्वीकार करना पड़ेगा।

व्याख्या—यदि ऐसा मानलें कि एक समय में ही प्रमाण और प्रमेय दोनों का ज्ञान हो जायगा, तो यह मान्यता ठीक नहीं होगी क्योंकि, मन में एक समय में दो ज्ञान नहीं होते और प्रमाण-प्रमेय का एक साथ ज्ञान होना मान लेने पर मन की क्रम वृत्ति ही गड़बड़ हो जायगी। अर्थात् उसमें क्रमपूर्वक ज्ञान उत्पन्न होने का अभाव होकर एक साथ ही अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे और उसके परिणाम स्वरूप उसकी निश्चयात्मक शक्ति समाप्त हो जायगी। इससे सिद्ध हुआ हुआ कि दो ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न होना असंभव है।

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१२॥

सूत्रार्थ—त्रैकाल्य-असिद्धेः=तीनों काल में सिद्ध न होने से, प्रतिषेध-अनुपपत्तिः=प्रमाणों का निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—तीनों काल में सिद्ध न होने से खण्डन किया जाना सिद्ध नहीं होता। जैसे वादी ने प्रमा को सिद्ध करने वाला न होने से प्रमाण की सिद्धि में प्रसंग उपस्थित कर प्रमाण-सामान्य का निषेध किया, परन्तु, वह निषेध कल्पना के ही अन्तर्गत है। तात्पर्य यह है कि सब प्रमाणों का निषेध स्वीकार करने पर प्रमाण का प्रतिषेध करने वाले प्रमाण का भी निषेध हो जायगा। और उसका अस्तित्व बराबर बना रहेगा। इसमें युक्ति यह है कि—

सर्वं प्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधासिद्धिः ॥१३॥

सूत्रार्थ—च=तथा, सर्वं प्रमाण प्रतिषेधात्=सब प्रकार के प्रमाणों का प्रतिषेध होने से, प्रतिषेधासिद्धिः=प्रमाण के प्रतिषेध होने की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या—सब प्रकार के प्रमाणों का निषेध किया जाय तो भी प्रमाण का प्रतिषेध प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अन्तर्गत होने से निषेध रूप प्रमेय भी किसी प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध करना होगा। क्योंकि खण्डन के सत्य होने अथवा असत्य होने का निर्णय किसी न किसी प्रमाण के आधार पर ही होगा। यदि सब प्रमाणों के अस्तित्व को ही समाप्त कर दें तो खण्डन के पक्ष में भी कोई प्रमाण न रहेगा और स्वयं असिद्ध हो जायगा।

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वं प्रमाणविप्रतिषेधः ॥१४॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तत्प्रामाण्ये=उस प्रतिषेध प्रमाण की मान्यता से, सर्व प्रमाण प्रतिषेधः=सब प्रकार के प्रमाणों का प्रतिषेध होना, न=नहीं बन सकता।

व्याख्या—प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के खण्डन को प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहें तो खण्डन के पक्ष में प्रमाण मिल जाने पर खण्डन को भी प्रमाण पर आधारित ही मानना होगा। तब, जो खण्डन प्रमाण का ही खण्डन करे और प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध हो तो वह खण्डन ही नष्ट हो जायगा और फिर विपक्षी की विजय किस प्रकार हो सकेगी? इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अमान्य करना असत्य एवं निराधार है। अब त्रिकाल में असिद्ध के प्रकारान्तर को असिद्ध करते हैं—

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥१५॥

सूत्रार्थ—च=और, शब्दात्=शब्द के द्वारा, आतोद्यसिद्धि-वत्=वीणा आदि वाद्यों की सिद्धि के समान, तत्सिद्धेः=प्रमाणों की सिद्धि होने से, त्रैकाल्य=तीनों काल में, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—शब्द के द्वारा वीणा आदि वाद्यों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसी प्रकार प्रमाण भी सिद्ध हैं और उनको तीनों काल में असिद्ध नहीं

मान सकते । अर्थात् बजती हुई वीणा के पीछे होने वाले शब्द के द्वारा वीणा का अनुमान होता है, इसी प्रकार प्रमा से पहिले सिद्ध प्रमाणों का भी अनुमान होना सिद्ध है । अब दृष्टान्त से प्रमाण और प्रमेय की उपपत्ति को बताते हैं ।

प्रमेयता च तुला प्रामाण्यावत् ॥१६॥

सूत्रार्थ—च=और, तुला प्रामाण्यात्=तराजू के प्रमाणित होने के समान, प्रमेयता=एक ही वस्तु में प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार करते हैं ।

व्याख्या—भार को मापने के साधन रूप तराजू को तुला कहते हैं और परिमाण ज्ञान के विषय अर्थात् भार रूप सोना, चाँदी आदि द्रव्य को प्रमेय कहा जायगा । जैसे किसी वस्तु का भार जानना हो तो उसके लिये तराजू का उपयोग करना होगा । और भार की जानकारी बाँट से होगी । अब यदि बाँट के सही होने की परीक्षा का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो उस बाँट को दूसरे बाँट से तोलना होगा । इस प्रकार बाँट रूप प्रमेय ही उस बाँट की सिद्धि के लिये प्रमाण बनता है । इससे सिद्ध हुआ कि जो वस्तु ज्ञान का कारण होगी वह प्रमाण कही जायगी और ज्ञान का विषय होने पर उसी वस्तु को प्रमेय कहेंगे । इस प्रकार जैसा प्रसंग हो, वहाँ वैसा ही समझना चाहिये ।

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तर सिद्धि प्रसंगः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—प्रमाणानाम्=प्रमाणों के, प्रमाणतः=प्रमाण से, सिद्धेः=सिद्धि मानी जाय तो, प्रमाणान्तर सिद्धि प्रसङ्गः=अन्य प्रमाण के सिद्ध करने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा ।

व्याख्या—यदि किसी प्रमाण को प्रमाण से सिद्ध करें तो उसके लिये जो प्रमाण दिया जायगा, उसे दूसरे प्रमाण से सिद्ध करना पड़ेगा ।

इस प्रकार, प्रत्येक प्रमाण को सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता होती रहेगी और प्रमाणों का क्रम कभी भी समाप्त नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है अनन्त प्रमाण भी किसी एक पदार्थ को सिद्ध नहीं कर पायेंगे और अन्त में उसे बिना प्रमाण ही स्वीकार करना पड़ेगा। अगले सूत्र में इसके अन्य दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं।

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेय सिद्धिः ॥१८॥

सूत्रार्थ—तद्विनिवृत्तेः=प्रमाण के बिना, प्रमाण की सिद्धि से, प्रमाण सिद्धिवत्=प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के सिद्ध होने के समान, प्रमेय-सिद्धिः=प्रमेय की सिद्धि के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता होगी।

व्याख्या—प्रमाण के अभाव वाले प्रमाण को सिद्ध मान लेने पर, उसकी सिद्धि के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता स्वीकार नहीं की जायगी, तो बिना प्रमाण कोई वस्तु सिद्ध न होने वाले सिद्धान्त का भी खण्डन हो जायगा और तब प्रमेय की सिद्धि भी प्रमाण के बिना ही माननी पड़ेगी। जब, प्रमेय भी बिना प्रमाण के सिद्ध हो गया तो प्रमाणों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। इस प्रकार प्रमाणों का स्वयं ही खण्डन हो जाता है। अब, इस पूर्व-पक्ष का समाधान करते हैं—

न प्रदीप प्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—प्रदीप-प्रकाश-सिद्धिवत्=दीपक और प्रकाश की सिद्धि के समान, तत्सिद्धेः=उसकी सिद्धि का कथन, न=नहीं बनता।

व्याख्या—जैसे दीपक से प्रकाश होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है दीपक का दिखाई देना या न देना प्रकाश पर निर्भर है। परन्तु, दीपक के देखने के लिये किसी दूसरे नेत्र की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार, नेत्र ही दीपक के होने, न होने का निर्णय कर देता है। इससे सिद्ध हुआ

कि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जिन-जिन वस्तुओं को जाना जाता है, उन्हीं वस्तुओं के ज्ञान से उनके प्रत्यक्ष होने का अनुभव होता है। तात्पर्य यह है कि प्रकाश में घट-पट आदि वस्तुऐं दिखाई देती हैं, वैसे ही प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि होने में अनवस्था दोष की प्राप्ति नहीं होती। अब प्रत्यक्ष की परीक्षा करेंगे—

प्रत्यक्ष लक्षणानुपपत्तिरसमग्र वचनात् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—असमग्र वचनात्=अपूर्ण वचन से, प्रत्यक्ष लक्षण-अनुपपत्तिः=प्रत्यक्ष लक्षण ठीक नहीं बनता।

व्याख्या—प्रत्यक्ष के लक्षण में पूरी बात नहीं कही गयी, इसलिये प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक प्रकार व्यक्त नहीं होता। यदि कहें कि प्रत्यक्ष के लक्षण में क्या कमी है? तो बताते हैं कि उसका पूरा कारण नहीं बताया गया। प्रत्यक्ष के लक्षण में कहा गया है कि इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, परन्तु, इन्द्रियों के विषयों से किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञान की उत्पत्ति के लिये आत्मा का मन से सम्बन्ध होता है और मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है, तब वे इन्द्रियाँ अपनी-अपनी विषय वस्तु को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। जबकि आत्मा, मन और इन्द्रिय तीनों का सम्बन्ध ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, तो केवल इन्द्रियों से ही उसकी उत्पत्ति मान लेना कभी युक्तिसंगत नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादि का जो लक्षण कहा वह अधूरा होने से ठीक नहीं माना जा सकता।

नात्ममनसो सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—आत्ममनसः=आत्मा और मन के, सन्निकर्ष=संयोग का, अभावे=अभाव होने से, प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष की, उत्पत्तिः=उत्पत्ति, न=सम्भव नहीं है।

व्याख्या—जैसे इन्द्रिय का विषय से संयोग न हो तो प्रत्यक्ष

ज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्मा का मन से संयोग न हो तो भी प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। जैसे, मन कहीं और लगा हो और कोई बात कही जाय तो उसका ठीक-ठीक प्रभाव नहीं पड़ता तथा नेत्र किसी विषय को सामने पाकर भी उसे नहीं देख पाते। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती।

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ।। २२ ।।

सूत्रार्थ - एवम् = इसी प्रकार, दिग्देशकालाकाशेषु = दिशा, देश, काल और आकाश का ज्ञान भी, प्रसङ्गः = प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

व्याख्या—दिशा, देश, काल और आकाश के बिना भी कुछ प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये प्रत्यक्ष के वर्णन में इनका भी समावेश होना चाहिये था। क्योंकि, दिशा आदि के बिना किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अब, पूर्व-पक्ष का समाधान करेंगे।

ज्ञान लिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ।। २३ ।।

सूत्रार्थ—आत्मनः = आत्मा का, ज्ञान = ज्ञान, लिङ्गत्वात् = लक्षण होने से, अनवरोधः = अवरोध का न होना, न = नहीं होता।

व्याख्या—आत्मा का लक्षण ज्ञान है, इसलिये प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति में दिशा आदि जड़ वस्तुओं को कारण मानना निरर्थक है। आत्मा का ज्ञान के साथ नित्य सम्पर्क रहता है और जिस वस्तु का नित्य सम्पर्क हो, वह सामान्य होने से वर्णन करने के लिये आवश्यक नहीं है।

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च मनसः ।। २४ ।।

सूत्रार्थ—च = और, तदयौगपद्यलिङ्गत्वात् = एक समय में

अनेक ज्ञान का लक्षण न पाये जाने से, मनसः=मन के संयोग को कहने की, न=आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या—मन की स्थिति से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक समय में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। इसलिये आत्मा और मन के संयोग का वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब इन्द्रिय और विषय के संयोग की प्रमुखता बतावेंगे।

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थ सन्निकर्षस्य
स्वशब्देन वचनम् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षनिमित्तत्वात्=प्रत्यक्ष निमित्त होने से, इन्द्रिय=इन्द्रिय, च=और उसके, अर्थ=विषय का, स्वशब्देन=अपना शब्द, वचनम्=वचन कहा जाता है।

व्याख्या—आत्मा और मन का संयोग ज्ञान मात्र का कारण है, इसलिये गौण और प्रत्यक्ष मात्र का कारण हो सकता है। अतः इन्द्रिय और उसके विषय का संयोग प्रमुख है, इसीलिये उसका वर्णन किया गया है। इसका और भी कारण है जो अगले सूत्र में देते हैं।

सुप्तव्यासक्तमनसाञ्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्ष-
निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, सुप्तव्यासक्तमनसाम्=सोते हुए और अत्यन्त लीन हुए पुरुष का ज्ञान, इन्द्रियार्थयोः=इन्द्रिय और उनके विषयों के, सन्निकर्ष निमित्त्वात्=संयोग के निमित्त से प्रमुख है।

व्याख्या—जब मनुष्य सोते समय यह विचार कर लेता है कि मुझे रात्रि में अमुक समय उठकर अमुक कार्य करना है, तो उस इच्छित समय पर ही उसकी निद्रा भंग हो जाती है। परन्तु, संकल्प न करके

सोने वाले पुरुष की निद्रा स्वयं भंग नहीं होती, वह शब्द आदि को सुन कर जागता है, क्योंकि उसे विषयेन्द्रिय के संयोग से ज्ञान होता है, इसलिये, इसमें आत्मा और मन के संयोग को प्रमुखता नहीं दी जा सकती। इसमें तो इन्द्रिय और उसका विषय ही प्रमुख है।

तैश्चापदेशो ज्ञान विशेषाणाम् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, ज्ञान विशेषाणाम्=ज्ञान विशेष का, तैः=उन इन्द्रिय और विषय से, अपदेशः=व्यवहार होता है।

व्याख्या—इन्द्रियों और उनके विषयों से ही विशेष ज्ञान का व्यवहार होता है। जैसे नासिका के द्वारा सूँघना, जिह्वा से रसास्वादन करना, नेत्र से देखना इत्यादि गंध-ज्ञान, रस-ज्ञान, रूप-ज्ञान आदि कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति में इन्द्रिय और विषय संयोग की प्रमुखता ही सिद्ध होती है। इसीलिये आत्मा और मन का संयोग न कहकर इन्द्रिय और विषय का संयोग ज्ञान उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इसमें पूर्वपक्ष यह है—

व्याहतत्वादहेतुः ॥२८॥

सूत्रार्थ—व्याहत्वात्=व्याघात दोष होने से, अहेतुः=यह हेतु निरर्थक है।

व्याख्या—इन्द्रिय और विषय का संयोग मुख्य और आत्मा तथा मन का संयोग गौण कहा जाना ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा मानने पर एक समय में दो प्रकार के ज्ञान का उत्पन्न न होने वाला प्रत्यक्ष धर्म नष्ट हो जायगा। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मन में एक समय में एक ही ज्ञान हो पाता है, दो नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और मन का संयोग ही सब ज्ञानों का कारण है, इन्द्रिय और विषय का संयोग इसका कारण नहीं हो सकता। अब इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—अर्थ-विशेष-प्राबल्यात्=विषय विशेष की प्रबलता होने से, न=वह दोष नहीं बनता।

व्याख्या—आत्मा और मन का संयोग ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, इस सिद्धान्त में व्याघात नहीं हो सकता। क्योंकि, प्रत्यक्ष देखते हैं कि घोर निद्रा में सोया हुआ मनुष्य भी ऊँची आवाज अथवा किसी प्रकार के शब्द से जाग उठता है, इससे कहते हैं कि यह इन्द्रिय और विषय के संयोग से हुआ। परन्तु, यह धारणा व्यर्थ है। मन के बिना ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता। इसमें इन्द्रिय ने मन को जगा कर ज्ञान की शक्ति दी, और मन से वह ज्ञान आत्मा के पास पहुँचाया, यदि आत्मा का और मन का संयोग न हुआ होता तो कैसा भी घोर शब्द क्यों न किया जाता, निद्रा भंग नहीं हो सकती थी। कार्य के सशक्त होने से इन्द्रिय प्रमुख होती है और कार्य के बलहीन होने से मन प्रमुख होता है। दोनों में पृथक् कारण होने से उसमें व्याघात होना नहीं मान सकते। आत्मा और मन के संयोग बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु, विशेष अर्थ होने से इन्द्रिय द्वारा मन को कार्य में लगाया गया। इसलिये इन्द्रिय को प्रमुख मान कर इन्द्रिय और विषय के संयोग की बात कही गयी। अब प्रत्यक्ष की परीक्षा करेंगे।

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेश ग्रहणादुपलब्धेः ॥३०॥

सूत्रार्थ—एक देश ग्रहणात्=एक देश का ग्रहण करने से, उपलब्धेः=उपलब्धि होने पर, प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष का, अनुमानम्=अनुमान सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—इन्द्रिय और विषय के संयोग से वृक्ष आदि का ज्ञान अनुमान ही है। क्योंकि एक समय में नेत्र से वृक्ष का एक भाग ही दिखाई देगा, उसका पीछे का भाग दिखाई नहीं देगा। वैसे ज्ञान पूरे वृक्ष

का हुआ है, परन्तु, पूरा विषय प्रत्यक्ष न होने से उसका अनुमान ही करना पड़ेगा कि पीछे का भाग भी ऐसा ही होगा। जैसे कि कहीं से धुँआ निकलता देखकर ही अग्नि का अनुमान हो जाता है। इसलिये, प्रत्यक्ष भी अनुमान ही कहा जायगा। इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं।

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥३१॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षेण=प्रत्यक्ष से, अपि=भी, यावत्-तावत् =जितने का ज्ञान होगा, उतने के प्रत्यक्ष होने से उसे, न= अनुमान नहीं कहा जा सकता।

व्याख्या—वृक्ष का जितना भाग प्रत्यक्ष देखा, उतने के ज्ञान से पूरे वृक्ष का ज्ञान हो जायगा। यदि एक देश का प्रत्यक्ष होना मान लिया तो प्रत्यक्ष का न होना, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से दो वस्तुओं का व्याप्ति ज्ञान होने पर ही उनमें से एक को देखकर दूसरे का अनुमान हो सकता है। जैसे धुँए और अग्नि को पहिले कभी देख चुके हैं, तभी धुँए को देख कर अग्नि का अनुमान होगा, अन्यथा नहीं होगा। इससे सिद्ध हुआ कि अनुमान भी प्रत्यक्ष के द्वारा ही सिद्ध होता है और एक देश का प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेने से, प्रत्यक्ष की सत्ता की अमान्यता वाले सिद्धान्त का स्वयं खण्डन हो जाता है। इसमें एक और दोष भी है, जिसे अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥३२॥

सूत्रार्थ—च=और,अवयवि सद्भावात्=अवयवी के प्रत्यक्ष होने से,एकदेशोपलब्धिः=एक देश की प्राप्ति,न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—अवयवी स्वतन्त्र द्रव्य है, इसलिये उसके द्वारा एक देश की प्राप्ति नहीं होती। बल्कि एक देश तथा उसका साथी एकदेशीय दोनों की ही प्राप्ति होती है। इसमें अवयव संयोग-कारण और अवयवी

संयोग-कार्य माना जाता है। इसी ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है।

अब, अवयवी को प्रमाणित करने में पूर्वपक्ष कहते है—

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥३३॥

सूत्रार्थ— साध्यत्वात् = साध्यत्व से, अवयविनि = अवयवी में, संदेहः = संदेह उपस्थित होता है।

व्याख्या—पूर्वपक्ष का कहना है कि अवयवी को विद्यमानता और उसका प्रत्यक्ष होना ठीक नहीं मान सकते, क्योंकि अवयवी में संदेह है। अवयवी अवयवों से पृथक् वस्तु है, यह सिद्ध होने पर ही अवयवी का प्रत्यक्ष होना मान सकते हैं। अगले सूत्र में इस पक्ष का समाधान करते हैं।

सर्वाग्रहणमवयव्य सिद्धेः ॥३४॥

सूत्रार्थ—अवयव्यसिद्धेः = अवयवी के सिद्ध न होने पर, सर्वाग्रहणम् = सब का ग्रहण होना नहीं बनता।

व्याख्या—यदि अवयवी को अवयव से पृथक् द्रव्य न मानें तो केवल प्रमाण से ही पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु, पदार्थ ज्ञान होता है, क्योंकि वर्तमान में ही महत्व विशिष्ट पदार्थ दिखाई देते हैं। यदि अवयवी को न मानेंगे तो प्रत्यक्ष का अभाव होने से अनुमान आदि प्रमाण भी अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं होंगे। इससे सिद्ध होता कि अवयवों से अवयवी भिन्न और स्वतंत्र पदार्थ है। अब अवयवी को सिद्ध करने के लिये युक्ति उपस्थित करते हैं।

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥३५॥

सूत्रार्थ—च = तथा, धारणाकर्षणोपपत्तेः = धारण और आकर्षण की उपपत्ति से भी अवयवी का भिन्न एवं स्वतंत्र पदार्थ होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—एक अवयव के धारण करने से सब अवयवों का धारण करना हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक अवयव के ज्ञान से ही सब अवयवों का ज्ञान हो जाता है। तथा अवयवी के प्रत्यक्ष होने से एक अवयव से ही उसके साथी सब अवयव जान लिये जाते हैं। अवयवी के अवयव दो प्रकार के हैं—(१) प्रत्यक्ष होने वाले, (२) प्रत्यक्ष न होने वाले। परन्तु, एक अवयव को देखकर अवयवों के समूह रूप अवयवी का ज्ञान हो जाने से अवयवी सिद्ध हो जाता है।

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—सेनावनवत्=सेना और वन के समान, ग्रहणम्=ग्रहण किये जाने से, चेत्=यदि, इति=ऐसा कहें तो, न=नहीं कह सकते, क्योंकि, अणूनाम्=परमाणुओं का ज्ञान, अतीन्द्रियत्वात्=इन्द्रियगम्य न होने से, ऐसा कहना निरर्थक है।

व्याख्या—यदि कहें कि जैसे दूर से सेना के अवयव और वन के अवयव एक से ही दिखाई देते हैं, उनमें भेद होने का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार इकट्ठे हुए परमाणुओं के भेद का ज्ञान न होने से, वे एक ही दिखाई देते हैं। तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सेना और वन के प्रत्यक्ष होने से वहाँ मनुष्य और वृक्ष प्रत्यक्ष हो जाते हैं, परन्तु, जो परमाणु अतीन्द्रिय हैं, वे किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं? इसलिये सेना और वन का उदाहरण परमाणुओं में प्रति युक्तिसंगत नहीं है। अवयवी भिन्न है और उसी का प्रत्यक्ष मानना उचित है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की परीक्षा पूर्ण हुई। अब अनुमान प्रमाण की परीक्षा करेंगे।

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—रोधोपघात सादृश्येभ्यः=रोध, उपघात और

साहश्य के द्वारा, व्यभिचारात्=व्यभिचार होने से, अनुमानम्= अनुमान को, अप्राणम्=प्रमाण नहीं मान सकते।

व्याख्या—पूर्वपक्ष है कि अनुमान को सिद्ध करने में जो प्रमाण दिये हैं, वे रोध, उपघात और साहश्य से व्यभिचार होने के कारण मान्य नहीं हैं। प्रथम यह कि नदी में बाढ़ आने से ऊपर कहीं वर्षा हुई होगी, यह अनुमान मानने योग्य नहीं है, क्योंकि ऊपर कहीं बन्द लगाकर बहते पानी को रोक दें और फिर उसे एक साथ छोड़ें तो भी बाढ़ आजायगी, इससे वर्षा होने का अनुमान मिथ्या होगया, इसलिये इस अनुमान में व्यभिचार दोष है। दूसरे चींटियों के अण्डों के निकलने और मोरों के शब्द सुनने से वर्षा होगी, ऐसा अनुमान ठीक नहीं, क्योंकि किसी वस्तु के जोर से गिरने आदि के कारण भी चींटियाँ अण्डों को लेकर भाग निकलती हैं और मोर का शब्द सही है या नहीं, इसमें भी संदेह हो सकता है क्योंकि मनुष्य भी मोर का-सा शब्द कर सकता है। इसलिये जिसमें संदेह हो वह प्रमाण नहीं हो सकता। अब इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं।

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तर भावात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—एकदेशत्रास सादृश्येभ्य:=एक देश त्रास और साहश्य के द्वारा, अर्थान्तरभावात्=अर्थान्तर होने से, न= व्यभिचार दोष का होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—एक देश, त्रास और साहश्य से अर्थान्तर होता है, इसलिये दोष नहीं बनता। जैसे एक देश का दृष्टान्त—नदी में बाढ़ इस प्रकार हमेशा नहीं आ सकती और चींटियों का अण्डे लेकर भागना भी जो भय के कारण होता है, उसे स्वाभाविक नहीं कह सकते। इस प्रकार जो कारण ऊपर दिये गये, वे कृत्रिम होने से व्यभिचार दोष को सिद्ध करने वाले नहीं हैं। क्योंकि, अनुमान के जो कारण कहे हैं, वे वास्तविक

हैं, कृत्रिम नहीं। इसलिए कृत्रिम और वास्तविक के हेतुओं में अन्तर है। इससे सिद्ध होता है कि अनुमान प्रमाण में कोई दोष नहीं है।

वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तो ॥३९॥

सूत्रार्थ—पततः=गिरने वाले पदार्थों में, पतित पतितव्य=पतित अर्थात् गिरा हुआ और पतितव्य अर्थात् गिरने वाला कहा जाने से, वर्त्तमान-अभावः=वर्त्तमान काल का अभाव है।

व्याख्या—वृक्ष की शाखा से गिरने वाले फल को पतित कहने का तात्पर्य है—गिरा हुआ अर्थात् भूत काल वाचक और पतितत्व कहने का मतलब है गिरने योग्य अर्थात् भविष्य काल का सूचक। इन दोनों शब्दों में वर्त्तमान काल का आभास नहीं मिलता। इससे यही मानना होगा कि वर्त्तमान काल का अस्तित्व ही नहीं है। अब इसका समाधान करते हैं।

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥४०॥

सूत्रार्थ—वर्त्तमानाभावे=वर्त्तमान का अभाव होने पर, तयोः=उन भूत काल और भविष्यत काल का, अपि=भी, अभावः=अभाव हो जायगा, क्योंकि, तदपेक्षत्वात्=वे दोनों वर्त्तमान की अपेक्षा से होने के कारण यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि वर्त्तमान काल का अस्तित्व स्वीकार न करेंगे तो भूत, भविष्यत् काल भी नहीं माने जा सकेंगे। क्योंकि, वर्त्तमान काल से ही उन दोनों की तुलना होती है। जैसे वृक्ष से फल गिरता है तो उसे गिरने में कुछ समय लगता है, इसलिये जो समय वहाँ से पतित होने में लगता है, उसी को वर्तमान काल मानना चाहिए। इस प्रकार वर्त्तमान का अभाव नहीं कह सकते। अगले सूत्र में वर्त्तमान की सिद्धि में अन्य हेतु दिया जाता है।

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥४१॥

सूत्रार्थ—अतीत-अनागतयोः=भूत और भविष्यत् काल की, इतरेतरापेक्षा=पारस्परिक अपेक्षा के द्वारा, सिद्धिः=सिद्धि, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—जैसे कि भूत काल किसे कहते हैं, इसका उत्तर यही देना होगा कि जो भविष्यत् से विपरीत है, फिर प्रश्न होगा कि भविष्यत् काल क्या है ? तो उत्तर होगा कि जो भूत काल से भिन्न है। इस प्रकार, एक की सिद्धि में दूसरे की अपेक्षा हुई, इसलिये यह अन्योन्याश्रय दोष है और दोनों के प्रमाणित न होने से परस्पर में वे अपने में से किसी एक को भी सिद्ध नहीं कर सकते। अब, वर्त्तमान को सिद्ध करने में एक हेतु और देते हैं।

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥४२॥

सूत्रार्थ—वर्त्तमान-अभावे=वर्त्तमान का अभाव मानने से, प्रत्यक्षानुपपत्तेः—प्रत्यक्ष की सिद्धि न होने से, सर्वाग्रहणम्=सब का ग्रहण नहीं हो सकता।

व्याख्या—वर्त्तमान का अभाव मानलें तो प्रत्यक्ष की असिद्धि हो जायगी अर्थात् जो सामने दिखाई दे रहा है, उसे भी अस्वीकार करना पड़ेगा और प्रत्यक्ष को अस्वीकार करने से सबको अस्वीकार करना होगा अर्थात् किसी का भी ग्रहण न हो सकेगा। जो वस्तु विद्यमान नहीं, उसे प्रत्यक्ष नहीं मान सकते, जो वस्तु सामने है, वही प्रत्यक्ष है। यदि उसे भी न मानें तो अनुमान और शब्द प्रमाण को भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष तो अनुमान और शब्द प्रमाण दोनों का ही सहायक है। यदि प्रमाणों की सिद्धि न हुई तो किसी प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व नहीं रह सकता। वर्त्तमान काल का ग्रहण दो प्रकार से हो सकता है—एक तो वस्तु के अस्तित्व से और दूसरे क्रिया के होने से। वस्तु का अस्तित्व—

यह द्रव्य है, यह घट है, यह पट है इत्यादि और क्रिया जैसे—काटता है, जल भरता है, खाता है इत्यादि। यह दोनों बातें प्रत्यक्ष होती हुई देखी जाती हैं, इसी से वर्त्तमान काल की सिद्धि होती है। अगले सूत्र में इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं।

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ।।४३।।

सूत्रार्थ—कृतता=क्रिया की पूर्णता, और, कर्त्तव्यतोपपत्तेः=कर्त्तव्यता की उत्पत्ति से, उभयथा=दोनों ही प्रकार से, ग्रहणम्=वर्त्तमान की सत्ता स्वीकृत होती है।

व्याख्या—कृतता और कर्त्तव्यता की प्राप्ति से भी वर्त्तमान का ग्रहण होता है। जैसे क्रिया का आरम्भ नहीं हुआ, परन्तु आगे होगा—उठावेंगे, पकावेंगे, बनावेंगे आदि में भविष्यत् काल हुआ और क्रिया का पूर्ण होना जैसे—घट बन गया, भोजन कर लिया आदि में बीते हुए काल का ज्ञान है, परन्तु इन दोनों की सिद्धि में भी वर्तमान की सिद्धि निहित हैं। जैसे—घड़ा बन कर सामने आगया, इसमें अतीत काल बदल कर वर्त्तमान होगया और घड़ा बनने की क्रिया आरम्भ होगई, परन्तु अभी घड़ा पूरा नहीं बना तो वह क्रिया, जो हो रही है, वर्त्तमान में है। इस प्रकार भूत और भविष्यत् काल में भी वर्त्तमान काल की सत्ता सिद्ध हो रही है। अब पूर्वपक्ष के मत से उपमान की परीक्षा कहते हैं।

अत्यन्तप्रायैकदेश साधर्म्यादुपमानासिद्धिः ।।४४।।

सूत्रार्थ—अत्यन्त प्रायैकदेश साधर्म्यात्=अत्यन्त, प्रायिक और एक देश के समान धर्म होने से, उपमान-असिद्धः=उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या—अत्यन्त सादृश्य से उपमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता। जैसे कहें कि यह गाय के समान गाय है यहाँ उपमा और उपमान दोनों एक होने से सादृश्य हुआ। परन्तु, ऐसी उपमा देना व्यावहारिक नहीं है।

यह तो कह सकते हैं कि गाय के समान नीलगाय होती है। सामान्य समानता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं होता, जैसे कहें कि जैसा बैल वैसा भैंसा, यह भी उपमान की सिद्धि में अनुपयुक्त है। किसी एक धर्म के मिलने ये भी उपमान की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सभी वस्तुओं में किसी दूसरी वस्तु के धर्म मिल सकते हैं। इसलिए उपमान को प्रमाण नहीं मान सकते। अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

प्रसिद्ध साधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषा-नुपपत्तिः ॥४५॥

सूत्रार्थ—प्रसिद्ध साधर्म्यात्=प्रसिद्ध समान धर्म से, उपमान-सिद्धेः=उपमान के सिद्ध होने पर, यथोक्तदोषानुपपत्तिः=दोषों की उत्पत्ति नहीं बनती।

व्याख्या—प्रसिद्ध साधर्म्य के द्वारा उपमान सिद्ध हो जाय, तब उक्त दोष की प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि साध्य की पूर्णता अथवा न्यूनता का आश्रय लेकर उपमान-प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि प्रसिद्ध समानता के आधार पर अनुमान प्रवृत्त होता है।

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्ष सिद्धेः ॥४६॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षेण=प्रत्यक्ष से, अप्रत्यक्ष=अप्रत्यक्ष की, सिद्धेः=सिद्धि होने से, उपमान भी अनुमान के अन्तर्गत होगा।

व्याख्या—पूर्व पक्ष का कहना है कि सादृश्य के प्रत्यक्ष होने से, परोक्ष पदार्थ सिद्ध होगा और तब उपमान और अनुमान में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जैसे प्रत्यक्ष धुँए को देख कर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान हो जाता है अर्थात् अग्नि है तो धुँआ अवश्य होगा। इसी प्रकार गाय को देख कर यह अनुमान हो जाता है कि नीलगाय भी ऐसी ही होती होगी। इस प्रकार उपमान और अनुमान में कोई भेद नहीं जान पड़ता है

और ऐसी स्थिति में उपमान का मानना ठीक नहीं है। अब इस पक्ष का उत्तर देते हैं—

नाप्रत्यक्षे गवयेप्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ॥४७॥

सूत्रार्थ—गवये=गवय के, अप्रत्यक्षे=अप्रत्यक्ष न होने पर, उपमानस्य=उपमान का, प्रमाणार्थम्=प्रमाण का अर्थ, न=नहीं, पश्यामः=दिखाई नहीं देता।

व्याख्या—गौ की समानता होने से गौ जाति के जितने भी पशु हैं, उनके नाम से सम्बन्धित ज्ञान उपमान का फल कहा गया है। जब बालक को गौ दिखाकर यह बताया जाता है कि यह गौ है तब उसे उसके गौ होने का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ परन्तु, अनुमान तो अप्रत्यक्ष वस्तु का होता है, इससे अनुमान और उपमान का भेद स्पष्ट ज्ञात होता है।

तथेत्युपसंहारादुपमान सिद्धेर्नाविशेषः ॥४८॥

सूत्रार्थ—तथा इति=यह गौ के समान ही है, इस प्रकार, उपसंहारात्=उपसंहार वचन से, उपमान सिद्धेः=उपमान की सिद्धि होने से, अविशेषः=दोनों में कोई भेद नहीं, न=ऐसा नहीं है।

व्याख्या—जैसी गौ है, वैसी ही गौ-जाति है, इस विशेष ज्ञान के द्वारा उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है, ऐसी मान्यता होती है। अनुमान में ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसमें व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है अर्थात् लक्षण देखकर किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान करने से इसमें यह विशेषता है। इस प्रकार उपमान की परीक्षा पूर्ण हुई। अब शब्द की परीक्षा करेंगे।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥४९॥

सूत्रार्थ—अर्थस्य=अर्थ के, अनुमेयत्वात्=अनुमेय होने से,

शब्दः=शब्द, अनुमानम्=अनुमान ही है, क्योंकि, अनुपलब्धेः= प्रत्यक्ष से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या—शब्द प्रमाण भी अनुमान के ही अन्तर्गत है। क्योंकि अनुमेय के सम्बन्ध ज्ञान से अनुमान होता है, वैसे ही शब्द और उसके अर्थ-सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, उसे उपमेय कहते हैं। जैसे अग्नि का नियत चिह्न धुँआ है और धुँए को देखकर अग्नि का अनुमान हो जाता है. वैसे ही शब्द के द्वारा अग्नि का नाम सुनकर ही अग्नि का स्वरूप-ज्ञान होता है। इस प्रकार अनुमान भी शब्द के अन्तर्गत ही है, इन दोनों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ—अद्विप्रवृत्तित्वात्=भिन्न प्रवृत्ति न होने से, उपलब्धेः=उसकी प्राप्ति का कारण शब्द है।

व्याख्या—यदि शब्द अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत न होता तो उसकी प्रवृत्ति भी अनुमान से भिन्न प्रकार की ही होनी चाहिये थी। परन्तु, दोनों की प्रवृत्ति एक जैसी ही मिलती है, इसलिये भी शब्द अनुमान ही है। क्योंकि अनुमान के द्वारा जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही शब्द के द्वारा होता है। जैसे—कोई कहे 'कि आज वर्षा आयेगी, क्योंकि मोर नाच रहा है,' तो मोर को नाचता देखकर वर्षा का अनुमान हुआ, वैसे ही वर्षा की बात सुनकर ही, वर्षा का दृश्य नेत्रों के सामने घूम जाता है, परन्तु वर्षा प्रत्यक्ष नहीं होती। इसीलिये शब्द को भी अनुमान के अन्तर्गत मानना ठीक है। इसके पक्ष में युक्ति देते हैं—

सम्बन्धाच्च ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ—च=और, सम्बन्धात्=शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध होने से भी ऐसी ही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—जैसा सम्बन्ध लिंग और लिंगी का अनुमान में देखते हैं, वैसा ही सम्बन्ध शब्द और अर्थ में मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द और अनुमान में कोई भेद नहीं है। यह समाधान पूर्व पक्ष का हुआ। अब उत्तर पक्ष का मत देते हैं—

आप्तोपदेश सामर्थ्याच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययः ॥५२॥

सूत्रार्थ—आप्तोपदेश सामर्थ्यात्=आप्त जन के उपदेश के सामर्थ्य से, शब्दार्थ=शब्द और उसके अर्थ का ज्ञान, सम्प्रत्ययः=उसी के समान समझना चाहिये।

व्याख्या—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों, मुमुक्षुओं अथवा परम साधकों को आप्तजन कहा जाता है। ऐसे पुरुषों का ज्ञान कभी मिथ्या नहीं होता, इसीलिये इनके उपदेश को प्रमाण मानते हैं। इसलिये उनके शब्द को अनुमान नहीं मान सकते, क्योंकि, इसमें किसी अनुमान अथवा विश्वास से काम नहीं लिया जाता। बल्कि, वह प्रमाण के अन्तर्गत है इसीलिए, शब्द को अनुमान प्रमाण नहीं कह सकते।

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥५३॥

सूत्रार्थ—प्रमाणतः=शब्दार्थ के अनुमान होने में कोई प्रमाण, अनुपलब्धेः=उपलब्ध नहीं है।

व्याख्या—वादी के द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बताया जाना किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं होता। क्योंकि शब्द जिस इन्द्रिय से ग्रहण होता है, उससे अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कहे कि 'गिलास लाओ'। यह शब्द कान के द्वारा सुना गया परन्तु, कान, गिलास ला नहीं सकता। यह कार्य तो हाथ करेगा। इससे भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। धुँए को देखकर अग्नि का अनुमान प्रमाणित है, क्योंकि जहाँ से धुँआ निकलता देखते हैं, वहाँ जाकर अग्नि को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु शब्द को सुनकर उसके अर्थ की प्रत्यक्ष

उपलब्धि नहीं हो सकती। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द को अनुमान प्रमाण मानना ठीक नहीं है।

पूरणप्रदाह पाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥५४॥

सूत्रार्थ—पूरण=भरना, प्रदाह=जलना, पाटन=छेदन, च=आदि से, सम्बन्ध-अभावः=सम्बन्ध का अभाव सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि ऐसा मान लें कि शब्द के साथ ही उसका अर्थ भी रहता है तो मिठाई का नाम लेते ही मुख मीठा हो जाना चाहिये और अन्न शब्द कहते ही पेट भर जाना चाहिये। अग्नि शब्द का उच्चारण करते ही मुख जल जाना और छुरी का नाम लेते ही शरीर कट जाना चाहिये। परन्तु, ऐसा होता दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध हुआ कि शब्दार्थ का व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं बनता।

शब्दार्थ व्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥५५॥

सूत्रार्थ—शब्दार्थ व्यवस्थानात्=शब्द और उसके अर्थ की व्यवस्था होने से, अप्रतिषेधः=व्याप्ति-सम्बन्ध का निषेध कहना किसी प्रकार उचित नहीं है।

व्याख्या—पूर्व पक्ष का कहना है कि शब्द का अर्थ नियत है अर्थात् जिस शब्द का जो अर्थ है, वह प्रत्येक वस्तु के लिये निश्चित है। जैसे गाय शब्द का प्रयोग गाय के लिये घड़ा या वस्त्र का प्रयोग भी इसी प्रकार होगा। यदि शब्द में अर्थ की नियत व्यवस्था न मानें तो घड़े का अर्थ वस्त्र और पट का अर्थ पानी भरने का घड़ा भी लगा सकेंगे। परन्तु, यह होता हुआ नहीं देखा जाता, इसलिए उनका नियामक संयोग-सम्बन्ध नहीं मान सकते। इससे उनका व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है और यही मान्यता ठीक है। अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य ॥५६॥

सूत्रार्थ—शब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य=शब्द के अर्थ का अनुभव, सामयिकत्वात्=समय के अनुसार होने से, उपरोक्त मान्यता न=ठीक नहीं है ।

व्याख्या—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। क्योंकि वह देश, काल आदि के अनुसार कल्पना किया हुआ है । विभिन्न भाषाओं में एक वस्तु को प्रकट करने वाले विभिन्न शब्द हैं, कहीं-कहीं तो जिस शब्द का अर्थ जो माना जाता है, दूसरी भाषा में उसी शब्द का विपरीत अर्थ निकलता है । इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ कल्पित है और जो व्यक्ति किसी शब्द को नहीं जानते, उनके सामने बार-बार उच्चारण किया जाने पर भी वह उसका अर्थ नहीं समझ सकते । इसलिये शब्दार्थ की बात कहना ठीक नहीं है । इसी पक्ष में अन्य हेतु भी अगले सूत्र देते हैं—

जाति विशेषे चानियमात् ॥५७॥

सूत्रार्थ—च=और, जाति विशेषे=जाति की विशिष्टता होने में, अनियमात्=कोई नियम न होने से भी शब्द के स्वाभाविक सम्बन्ध की मान्यता नहीं बनती ।

व्याख्या—जाति विशेष में भी इसकी कोई नियत व्यवस्था नहीं है कि अमुक शब्द का अर्थ अमुक जाति का सूचक ही होगा । जैसे सूर्य का प्रकाश सब जातियों और सभी वस्तुओं को एक-सा ही उपलब्ध होता है, उसमें देश या काल का कोई भेद बाधक नहीं होता और जाति विशेष के उल्लेख से शब्द एक ही जाति के व्यक्तियों में विभिन्नता प्रकट करने के कारण भी उसमें स्वाभाविक सम्बन्ध की मान्यता नहीं ठहरती । अब ब्राह्मण वाक्यों के सम्बन्ध में कहते हैं—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघात पुनरुक्तदोषेभ्यः ॥५८॥

सूत्रार्थ—अनृत=मिथ्या, व्याघात=परस्पर विरोध, और, पुनरुक्त=बारम्बार एक बात को कहना, दोषेभ्यः=इन दोषों के होने से, तदप्रामाण्यम्=ब्राह्मण वाक्य प्रमाण रूप में नहीं माने जा सकते ।

व्याख्या—ब्राह्मण वाक्य अथवा आप्त-वचन को प्रामाणिक इसलिए नहीं मान सकते, कि उनमें, मिथ्यात्व, परस्पर विरोध और पुनरुक्ति दोष पाये जाते हैं । इसमें मिथ्यात्व यह कि 'पुत्र की कामना वाला मनुष्य पुत्रेष्टि यज्ञ करे' ऐसा शास्त्र वचन है, परन्तु, अनेक पुरुषों के पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता । इसी प्रकार यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति भी होगी या नहीं, यह बात सन्दिग्ध ही है । परस्पर विरोधी बातें यह हैं कि किसी शास्त्र में सूर्योदय से पहिले हवन करने का उपदेश है और किसी में सूर्योदय के बाद में करने का आदेश है । अब कौन-सा आदेश ठीक हैं, कौन-सा ठीक नहीं ? इसका निर्णय कैसे हो ? पुनरुक्ति दोष यह है कि एक ही बात का बार-बार वर्णन तो शास्त्र में भरा पड़ा है । इस प्रकार आप्त-वचनों में दोष होने से उनको प्रमाणिक मानना कदापि उचित नहीं है । अब इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥५९॥

सूत्रार्थ—कर्मकर्तृसाधन=कर्म, कर्त्ता और साधन के, वैगुण्यात्=यथा योग्य न होने से, न=दोष नहीं है ।

व्याख्या—कर्म का फल केवल आदेश पर निर्भर नहीं है । जैसे कोई कहे कि अमुक कार्य करो जब तक उस कार्य को किया न जाय, तब तक उसका फल नहीं हो सकता । भोजन बनेगा तो खाया जायगा, न बनेगा तो केवल कह देने से ही क्या खाया जा सकता है ? कर्म, कर्त्ता

और साधन तीनों के यथायोग्य होने पर ही कर्म का फल मिलेगा। इसमें कर्म—रसोई बनाने का कार्य, कर्त्ता—बनाने वाला और साधन—रसोई के लिये सामिग्री इन तीनों का होना आवश्यक है। यदि एक का भी अभाव होगा तो फल की सिद्धि नहीं होगी। विगुण का एक प्रकार और भी है—कोई पुरुष बीमार है, चिकित्सक ने उसे विपरीत दवा दे दी तो उसका प्रभाव भी विपरीत पड़ा। परन्तु, इस स्थिति में भी उस दवा या उसके प्रयोग को निष्फल नहीं कह सकते। यही बात पुत्रेष्टि यज्ञ के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। यज्ञकर्त्ता के किसी दोष से यज्ञ का फल न हो तो वेद के उपदेश को मिथ्या कहना ठीक नहीं है। क्योंकि पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा बहुतों को पुत्र की प्राप्ति होते देखी जाती है। इसी प्रकार, वर्षा के लिए यज्ञ किया जाता तो वर्षा भी होती है—यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए आप्त-वचनों में दोष होना नहीं मान सकते। अब व्याघात दोष का भी समाधान करते हैं।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ६० ॥

सूत्रार्थ—अभ्युपेत्य=हवन के समय में, कालभेदे=काल भेद से, दोष वचनात्=वचन में दोष हुआ है।

व्याख्या—हवन के समय में जो भेद है, वह काल-भेद से ही हुआ है। अग्निहोत्र के दो समय होते हैं। प्रातःकाल का हवन सूर्योदय से पहिले और सायंकाल का सूर्यास्त से पहिले किया जाना चाहिए। ऐसा उपदेश कहीं नहीं मिलता कि प्रातःकाल का हवन ही सूर्योदय के बाद किया जाये। यदि एक काल के लिए ही दो प्रकार के आदेश होते तो उसमें व्याघात दोष आ सकता था। परन्तु, अलग-अलग समयों में होने वाले अग्निहोत्रों का अलग-अलग काल-निर्देश करना व्याघात दोष का कारण नहीं है। अब, अगले सूत्र में पुनरुक्ति दोष का समाधान भी करेंगे।

अनुवादोपपत्तेश्च ।। ६१ ।।

सूत्रार्थ—च=और, अनुवादोपपत्तेः=अनुवाद की उपपत्ति से पुनरुक्ति दोष नहीं बनता ।

व्याख्या—यदि किसी विशेष प्रयोजन से एक बात को दो बार कहें तो पुनरुक्ति दोष नहीं बनता । उसे अनुवाद कहा जाता है । क्योंकि, अनुवाद करने में निश्चित उद्देश्य होता है, इसलिये वह पुनरुक्ति दोष नहीं । वेदों में भी विभिन्न स्थलों पर एक बात को दो बार कहा गया है, परन्तु प्रयोजनीय होने से ऐसा किया गया है । हाँ, साधारण व्यक्ति उस प्रयोग को निरर्थक मानकर पुनरुक्ति का भ्रमकर बैठते हैं । परन्तु, वास्तविक रूप से वैसा नहीं है, उसके सार्थक होने से, उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं बनता । इसका अन्य हेतु अगले सूत्र में देते हैं—

वाक्य विभागस्य चार्थग्रहणात् ।। ६२ ।।

सूत्रार्थ—च=और, वाक्यविभागस्य=वाक्य के विभाग का अर्थ ग्रहणात्=अर्थ ग्रहण किये जाने से भी पुनरुक्ति दोष का होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—वाक्य के दो भेद कहे हैं—(१) विधायक और (२) अनुवादक । इससे भी अनुवाद का सार्थक होना सिद्ध होता है और पुनरुक्ति दोष का होना सिद्ध नहीं होता । अगले सूत्र में ब्राह्मण वाक्य के भेद कहेंगे ।

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ।। ६३ ।।

सूत्रार्थ—विधि=विधिवाक्य, अर्थवाद=अर्थवाद वाक्य, और अनुवादवचन=अनुवाद वाक्य, विनियोगात्=यह तीन भेद ब्राह्मण वाक्य के कहे गये हैं ।

व्याख्या—ब्राह्मण ग्रन्थों में तीन प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं—विधि वाक्य, अर्थ वाक्य और अनुवाद वाक्य। अगले सूत्रों में इन वाक्यों के लक्षण कहे गये हैं—

विधिर्विधायक ॥ ६४ ॥

सूत्रार्थ—विधायकः=विधायक वाक्य को, विधिः=विधि-वाक्य कहा गया है।

व्याख्या—जिस वाक्य में किसी कर्म के करने का उपदेश निहित हो, वह विधि-वाक्य है। जैसे कहें कि यज्ञ करो, रसोई बनाओ, दूध गर्म करो इत्यादि वाक्य, विधि-वाक्य कहे जाते हैं। अब अगले सूत्र में अर्थवाद-वाक्य का लक्षण कहेंगे।

स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ—स्तुतिः=प्रशंसा, निन्दा=बुराई, परकृतिः= पर-कृति, और, पुराकल्प=पुराकल्प, इति=यह, अर्थवादः=अर्थवाद वाक्य के लक्षण समझने चाहिए।

व्याख्या—स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प यह चार लक्षण अर्थवाद के हैं। जिस वाक्य में किसी कार्य की अथवा वस्तु के गुणों की बड़ाई हो वह स्तुति है। यदि किसी व्यक्ति के कार्यों की प्रशंसा की जाय तो वह, उससे बहुत प्रसन्न होता है और किसी के कार्य के दोषों को कहना, उसकी निन्दा है। निन्दा वाले वाक्य से लोग अप्रसन्न होते हैं। कभी-कभी निन्दा का परिणाम अच्छा भी निकलता है और बहुत-से व्यक्ति अपनी निन्दा होती देखकर, उन बुराइयों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार पर-दोष-दर्शन को निन्दा कहा जाता है। अब परकृति को समझाते हैं—दूसरों के अच्छे या बुरे कर्मों का उदाहरण देते हुये प्रशंसा या निन्दा करके शुभ कर्मों में किसी को प्रेरित करना परकृति है। जैसे महाभारत का उदाहरण दें कि युद्धिष्ठिर सत्यवादी थे इसलिये धर्मराज कहे जाते थे, परन्तु उन्होंने

अश्वत्थामा मर गया कहकर यह भ्रम फैला दिया कि जो अश्वत्थामा मरा वह वीर अश्वत्थामा था या अश्वत्थामा नामक हाथी था। इसीलिये, उनको नरक में जाना पड़ा। इस वाक्य से यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई कि थोड़ा-सा झूठ बोलना भी नरक प्राप्ति का साधन है और किसी व्यक्ति का दोष दूर करने के लिये यह उदाहरण दिया गया, इसलिये इसे परकृति कहते हैं। अब पुराकल्प बताते हैं—प्राचीन कालीन सत्पुरुषों ने जिस धर्म का आचरण किया हो, उस धर्म का आचरण करना ही पुराकल्प है। जैसे कहें कि गाँधीजी ने अमुक-अमुक कार्य किये, उनके द्वारा देश को स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई। हमें भी उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। और इस प्रकार मार्ग का अनुसरण करना पुराकल्प कहा जायगा। अगले सूत्र में अनुवाद का लक्षण कहेंगे।

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ—विधिविहितस्य=विधि-वाक्य के विधान का, अनुवचन=पुनः कहा जाना, अनुवादः=अनुवाद है।

व्याख्या—जो बात एक बार कही गई, उसका दुबारा कहा जाना, अनुवाद है। अथवा जिसका विधि से विधान किया गया उसके फिर कहने को अनुवाद कहते हैं। यह अनुवाद भी दो प्रकार का होता है—शब्दानुवाद और अर्थानुवाद विधि का अनुवाद शब्दानुवाद कहा जाता है और विहित के अनुवाद को अर्थानुवाद कहते हैं। वेद में तीन प्रकार के वाक्य मिलते हैं, उसी के अनुसार लोक-व्यवहार में भी तीन प्रकार के वाक्य प्रयुक्त होते हैं। जैसे, कोई स्वामी अपने रसोइये को आदेश दे कि "रसोई बनाओ" इसे विधि वाक्य कहेंगे। यदि कोई उपदेश दे कि भोजन चबा-चबाकर करना चाहिये, इससे जल्दी पचता है और भोजन के पचने से स्वास्थ्य सदा ठीक रहता है। इस वाक्य को अर्थवाद कहेंगे और स्वामी अपने नौकर को आदेश दे कि "जल लाओ, शीघ्र जल लाओ" तो इस वाक्य को अनुवाद कहेंगे। इसमें, जल लाने की शीघ्रता का

संकेत होने से वाक्य का दो बार कहा जाना पुनरुक्ति दोष नहीं माना जासकता। शीघ्रता के प्रयोजन से ही यह वाक्य दो बार कहा गया। पुनरुक्ति दोष वह है जबकि बिना प्रयोजन के ही एक वाक्य का बार-बार प्रयोग किया जाय, अब अनुवाद के पुनरुक्ति होने के पक्ष में कहते हैं।

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६७ ॥

सूत्रार्थ—अनुवादपुनरुक्तयोः=अनुवाद और पुनरुक्ति का, विशेषः=भेद, न=नहीं माना जाता, क्योंकि, शब्दाभ्यासोपपत्तेः=अनुवाद और पुनरुक्ति दोनों में शब्द और अभ्यास पाया जाया है।

व्याख्या—अनुवाद और पुनरुक्ति में कोई भेद नहीं माना जाता क्योंकि, इन दोनों में ही शब्द के अभ्यास की प्राप्ति होती है अर्थात् पुनरुक्त और अनुवाद एक ही है, क्योंकि, दोनों में ही शब्दार्थ की आवृत्ति में समानता है। अब, इस पूर्व पक्ष का निराकरण करेंगे।

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६८ ॥

सूत्रार्थ—शीघ्रतर गमनोपदेशवत्=अधिक शीघ्र जाने के आदेश के समान, अभ्यासात्=अभ्यास के होने से, अविशेषः=अनुवाद और पुनरुक्त में भेद न मानना, न=उचित नहीं है।

व्याख्या—पुनरुक्त और अनुवाद में कोई भेद नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अर्थ वाले अभ्यास को अनुवाद और बिना अर्थ के अभ्यास को पुनरुक्त कहते हैं। जैसे, किसी से कहा जाय "जाओ-जाओ" अर्थात् शीघ्र जाओ, देर न करो, इस प्रकार कहा जाना अभिप्राय जन्य है। इससे शीघ्र जाने का आदेश प्रकट होता है। परन्तु, निरर्थक यह दो बार कहना कि "वह जाता है—वह जाता है।" पुनरुक्त कहा जायगा। इसका और भी हेतु देते हैं—

मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥ ६९ ॥

सूत्रार्थ — मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवत्=मंत्र और आयुर्वेद के प्रमाण के समान, अप्तप्रामाण्यात्=आप्त जनों के वाक्यों के प्रमाणित होने से, तत्=उस वेद की, प्रामाण्यम्=प्रामाणिकता है।

व्याख्या—जैसे, मन्त्र और आयुर्वेद प्रमाणिक हैं, वैसे ही आप्त पुरुषों के वाक्य प्रमाणिक हैं और इसी से वेद आदि आर्ष ग्रन्थों का प्रमाणिक होना भी सिद्ध होता है। मन्त्रों के विधि पूर्वक जाप से उनका फल भी देखने में आता है और आयुर्वेद की जो दवा जिस रोग की निवृत्ति के लिये नियत है, वह दवा उस रोग में लाभ करती प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसी प्रकार आप्तजनों के वाक्य भी प्रामाणिक होते हैं। वेद आदि के वाक्यों की प्रमाणिकता में भी कोई शङ्का नहीं होसकती।

द्वितीयाध्यायः प्रथमाह्निक समाप्तः

द्वितीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभाव प्रामाण्यात् ॥१॥

सूत्रार्थ—ऐतिह्यार्थापत्ति=ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भवा=भाव=सम्भव और अभाव, प्रामाण्यात्=प्रमाण होने से, चतुष्ट्वम्=प्रमाणों के चार भेद ही मानना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रकार के ही प्रमाण नहीं है, बल्कि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव यह चार भेद और भी हैं। इस प्रकार प्रमाण के आठ भेद माने गये हैं।

ऐतिह्य का अर्थ है—इतिहास प्रसिद्ध पुरुष। जैसे, भगवान् श्रीराम, कृष्ण अथवा भीष्म, युधिष्ठिर आदि। एक अर्थ के कथन से दूसरे अर्थ की प्राप्ति हो जाय, जैसे कहा जाय कि "अमुक व्यक्ति मोटा होने से दिन में एक बार ही भोजन करता है।" इससे यह अर्थ सिद्ध होगया कि वह व्यक्ति रात्रि में भोजन नहीं करता इसे अर्थापत्ति कहते हैं। मन में पंसेरी अर्थात् आठ पंसेरी कहने से मन का ज्ञान होता है, पंसेरी अथवा सेरों के बिना मन का ज्ञान नहीं सो सकता। इस प्रकार पंसेरी या सेर का होना सम्भव प्रमाण है। अभाव प्रमाण उसे कहते हैं, जहाँ कारण नहीं तो कार्य हो ही नहीं सकता। यह अभाव प्रमाण है, अब इसका निराकरण करते हैं।

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवा-भावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—शब्दे=शब्द में, ऐतिह्यानर्थान्तर भावात्=ऐतिह्य का अन्तर्भाव, च=एवं, अनुमाने=अनुमान में, अर्थापत्ति, सम्भवानर्थान्तरभावात्=अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अन्तर्भाव होने से, अप्रतिषेध=प्रमाण के विभागों का निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—प्रमाण चार ही हैं, क्योंकि ऐतिह्य शब्द प्रमाण के, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव तीनों ही अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत हैं। ऐतिह्य आप्तजनों के वाक्य के समान ही प्रमाण है। क्योंकि जो प्रत्यक्ष है वह प्रमाण और अप्रत्यक्ष है उसे अनुमान कहते हैं। जब कोई एक व्यक्ति एक बार दिन में भोजन करता है, तो यह अनुमान सहज ही होजाना चाहिये कि वह रात्रि में भोजन नहीं करता। अब शब्द प्रमाण में ऐतिह्य को क्यों माना जाय? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि इतिहास में जो लिखा है, वह प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा वर्णन की गई घटनाएँ होती हैं।

परन्तु, आप्त पुरुषों द्वारा लिखे गये इतिहास को ही प्रामाणिक मान सकते हैं। इस लिये आप्त पुरुषों के वाक्य और इतिहास दोनों को समान समझना चाहिये। अब, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव को अनुमान के अन्तर्गत क्यों माना जाय, इसका समाधान करते हैं कि अनुमान वह है जो ऊपर, दिन में भोजन करने वाले के प्रति रात्रि में भोजन न करने की, स्वत:सिद्धि वाली बात बताई गई है। अर्थापत्ति उसे कहते हैं, जिसमें एक वाक्य के अर्थ को जानने पर दूसरी वस्तु के अर्थ का ज्ञान स्वयं हो जाय। तो अर्थापत्ति और अनुमान के एक ही लक्षण हुए। देवदत्त दिन में एक बार ही भोजन करता है तो रात्रि में उसके द्वारा भोजन न किया जाना स्वयंसिद्ध होने से उसे अर्थापत्ति कहते हैं। एक वस्तु के ग्रहण से दूसरी वस्तु का अनुमान हो जाना 'सम्भव' अनुमान है। जैसे श्रद्धा है तो प्रीति आवश्यक होगी अथवा ज्ञान है तो मुक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार 'सम्भव' का अनुमान के अन्तर्गत होना स्पष्ट सिद्ध है। तीसरा अभाव अनुमान के अन्तर्गत इसलिये है कि उसके लक्षण भी अनुमान से मिलते हैं। जैसे लोभ का अभाव है तो निन्दा का भी अभाव होगा और मोह का अभाव है तो शोक का भी अभाव होगा। इनमें एक के अभाव को देखकर दूसरे को अभाव का स्वयं अनुमान हो जाने से, यह भी अनुमान के अन्तर्गत ही है। इस प्रकार, सभी प्रमाण इन चार प्रमाणों के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिये अधिक भेद मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब, पूर्वपक्ष द्वारा अर्थापत्ति पर किये गये प्रतिषेध को कहेंगे।

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थ—अनैकान्तिकत्वात्=व्यभिचार दोष होने से, अर्थापत्ति:=अर्थापत्ति को, अप्रमाणम्=प्रमाण नहीं मान सकते।

व्याख्या—अर्थापत्ति को प्रमाण के अन्तर्गत मानना अनुचित है,

क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष की आशङ्का है। जैसे, कोई कहे कि बादल नहीं हैं तो वर्षा नहीं होगी, इसके अर्थ से बादल होंगे तभी वर्षा हो सकती है, यह बात सिद्ध होती है। इसे अर्थापत्ति प्रमाण मानों तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि, कभी-कभी बादलों के होने पर भी वर्षा नहीं होती। इसलिये अर्थापत्ति को प्रमाण मानने में यह व्यभिचार दोष का प्रसंग उपस्थित होता है। अब इसका समाधान करेंगे।

अनर्थापत्तावर्थापत्यभिमानात् ।।४।।

सूत्रार्थ—अनर्थापत्तौ=अनर्थापत्ति में, अर्थापत्यभिमानात्=अर्थापत्ति का अभिमान होने से, व्यभिचार दोष सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—अर्थापत्ति में व्यभिचार दोष बताना उचित नहीं है। क्योंकि, कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होगा ही। इससे इस अर्थ की स्वतः प्राप्ति होती है कि कारण के होने से ही कार्य हो सकता है। परन्तु, कारण के होने और कार्य के न होने से कारण के अस्तित्व में कोई दोष नहीं आता तथा कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट हुआ कि बादल हैं और वर्षा नहीं हुई तो इसमें व्यभिचार दोष नहीं आता। जैसे पिता है तो पुत्र हो सकता है, पुत्र न हुआ तो भी पिता का अस्तित्व तो है ही। यदि बादल के बिना ही बरसात हो जाती तो व्यभिचार दोष आता, क्योंकि पुत्र की उत्पत्ति पिता के बिना नहीं हो सकती। इससे अर्थापत्ति का प्रमाण के अन्तर्गत माना जाने में कोई दोष नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि वादी द्वारा अर्थापत्ति को अनर्थापत्ति कहना निरर्थक है। इसके पक्ष में अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं।

प्रतिषेधाऽप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ।।५।।

सूत्रार्थ—अनैकान्तिकत्वात्=अनैकान्तिक होने से, च=भी, प्रतिषेध=निषेध, अप्रामाण्यम्=प्रामाणिक नहीं है।

व्याख्या—अर्थापत्ति में व्यभिचार दोष नहीं आता, क्योंकि वादी का खण्डन ही व्यभिचार दोष से युक्त है। क्योंकि भ्रमवश जहाँ अनर्थापत्ति कहा गया है, वहीं यह दोष आ सकता है। 'व्यभिचार होनेके कारण अर्थापत्ति प्रमाण के अन्तर्गत नहीं' यह वाक्य अर्थापत्ति का खण्डन करता है, उसके अस्तित्व का खण्डन नहीं करता। व्यभिचार दोष होगा, वहाँ अर्थापत्ति न होगी, परन्तु व्यभिचार दोष न होगा, तब तो अर्थापत्ति बनेगी ही। इस प्रकार जो खण्डन ही दोषपूर्ण है, वह किसी विषय का खण्डन कैसे कर सकता है ? अब, इसे और भी स्पष्ट करते हैं।

तत्प्रामाण्ये वानार्थापत्त्यऽप्रामाण्यम् ॥६॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तत्प्रामाण्ये=उस निषेध वाले वाक्य को प्रमाण मानें तो, अर्थापत्त्यप्रामाण्यम्=अर्थापत्ति को अप्रमाण मानना भी, न=सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या –प्रतिषेध का प्रमाण मानें तो अर्थापत्ति के अप्रामाणिक मानने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता। यदि कारण के अस्तित्व में कार्य के न होने को व्यभिचार मानकर उसका निषेध करें और उस निषेध को ही प्रमाण मानने लगें तो अर्थापत्ति को प्रमाण मानने में ही क्या दोष है ? इससे अर्थापत्ति की सिद्धि हुई। अब अभाव के प्रमाण न होने का पूर्वपक्ष का आक्षेप कहेंगे।

नाऽभाव प्रामाण्यं प्रमेयाऽसिद्धेः ॥७॥

सूत्रार्थ—प्रमेयाऽसिद्धेः=प्रमेय के सिद्ध न होने पर, अभाव प्रामाण्यम्=अभाव की प्रामाणिकता, न=नहीं है।

व्याख्या—प्रमेय को सिद्ध करने के लिये प्रमाण होता है। जिसके द्वारा प्रमेय की सिद्धि न हो, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। और

अभाव के द्वारा भी प्रमेय की सिद्धि नहीं होती, इसलिये उसे भी प्रमाण मानना ठीक नहीं है। जैसे गऊ को सिद्ध करने के लिये घोड़े का प्रमाण दें तो उससे गऊ सिद्ध नहीं हो सकती। तो इस प्रकार विषय की सिद्धि न होने को अभाव कहेंगे और यह अभाव प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आ सकता। अब, इसका समाधान करते हैं—

लक्षितष्वलक्षण लक्षितत्वादऽलक्षितानां तत्प्रमेय सिद्धेः ॥८॥

सूत्रार्थ—लक्षितेषु=कहे गये पदार्थों में, अलक्षितानाम्=न कहे हुये पदार्थों का, अलक्षण लक्षितत्वात्=लक्षण दिखाई न न देने से, तत्प्रमेय=अभाव प्रमेय की, सिद्धिः=सिद्ध होती है।

व्याख्या—यदि प्रमेय की सिद्धि हो तो अभाव के प्रमाण होने में किसी आपत्ति की सिद्धि नहीं होती। जैसे एक स्थान पर कई घड़े रक्खे हैं, उनमें कुछ पर चिह्न हैं और कुछ बिना चिह्न के हैं, उनके सम्बन्ध में नौकर को आदेश दिया कि उस स्थान से बिना चिह्न के घड़े उठाला, तो वह जिन घँड़ों पर चिह्न का अभाव देखेगा, उन्हें ले आवेगा। इस प्रकार, उसे चिह्न के अभाव से ज्ञान हुआ तो अभाव का प्रमाण होना सिद्ध हो गया। इसकी अन्य युक्ति भी दी जाती है।

असत्यर्थे नाऽभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥९॥

सूत्रार्थ— अर्थे=विषय के, असति=न होने से, अभावः=अभाव, न=नहीं बनता, चेत्=यदि, इति=ऐसा कहो तो, न=नहीं कह सकते, क्योंकि, अन्यलक्षणोपपत्तेः=अन्य पदार्थ में लक्षण मिलते हैं।

व्याख्या—जो वस्तु पहिले हो और फिर न रहे तो उसका अभाव कह सकते हैं, किन्तु जो वस्तु पहिले नहीं थी, उसका अभाव कैसे कहा जा सकता है। यथार्थ में भाव का नष्ट होना ही अभाव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का नाम होता है और अभाव तभी माना जायगा, जब नाम वाली वस्तु उपलब्ध नहीं होगी। नाम उसी वस्तु का होगा, जो पहिले कभी हो चुकी होगी। यदि कहें कि आकाश के फूल और खरगोश के सींग कभी नहीं होते, और न वे कभी होकर नष्ट हुए, परन्तु, उनका नाम भी रख गया और अभाव भी कहा जाता है, तो इसका समाधान यह है कि फूल और सींग संसार में प्रत्यक्ष देखे जाते है, उनके नाम भी हैं ही। उन्हें आकाश और खरगोश के साथ जोड़कर श्लेष में अभाव कह दिया जाता है। यदि फूल और सींग संसार में न होते तो उनका नाम भी नहीं होता और अभाव भी नहीं कहा जाता। फूल के जो लक्षण हैं वे आकाश में नहीं होते इसीलिये अभाव कहा जाता है। जो चिह्न संसार में दिखाई नहीं देते, उनका अभाव कहना उचित नहीं। इस पर शङ्का करते हैं—

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥१०॥

सूत्रार्थ—तत्सिद्धेः=चिह्न वाले पदार्थ में लक्षण मिलने से, अलक्षितेषु=बिना चिह्न वाले पदार्थ का अभाव, अहेतुः= ज्ञान का हेतु नहीं है।

व्याख्या—चिह्न वाले घड़ों में जो लक्षण मौजूद हैं, उन लक्षणों का अभाव अलक्षित वस्तु में कहना ठीक नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ के स्वरूप और अस्तित्व का ठीक ज्ञान होगा, वही पदार्थ अपने स्वरूप के कारण दूसरे से पृथक् अस्तित्व रखेगा और उसी का न होना अभाव कहा जायगा। जिस वस्तु का स्वरूप नहीं, वह वस्तु अपने को किसी से पृथक्

नहीं कर सकती। इसलिये उसका अभाव भी नहीं कहा जा सकता। अब इसका समाधान करते हैं।

न लक्षणावस्थितापेक्ष सिद्धेः ॥११॥

सूत्रार्थ—लक्षणावस्थित=लक्षण में अवस्थित की, अपेक्ष-सिद्धेः=अपेक्षाकृत अभाव सिद्धि, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—जिस वस्तु का जो लक्षण है, वह उसी वस्तु में होगा अलक्षित वस्तु में तो हो ही नहीं सकता। जिन लक्षणों को नहीं देखते, उनमें लक्षण के अभाव से अपेक्षा सिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जैसे कोई कहे कि इन पुष्पों में से लाल पुष्पों को छोड़ कर अन्य पुष्प लाओ। पुष्प के लक्षण तो सभी पुष्पों में पाये जाते हैं, परन्तु, कोई लाल है, कोई पीला, कोई नीला आदि विभिन्न रङ्ग के पुष्प होते हैं। अब जिन पुष्पों में लाल रङ्ग का अभाव होगा, उन पुष्पों को वह ले आयेगा। केवल लाल होने से ही उसे उन लाल रङ्ग के पुष्पों का ज्ञान हुआ, अन्य कोई प्रमाण उसके वैसे ज्ञान का कारण नहीं था। अब अभाव के लक्षण की सार्थकता में युक्ति देते हैं।

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥१२॥

सूत्रार्थ—च=और, उत्पत्तेः=उत्पत्ति के, प्राक्=पहिले, अभावोपपत्तेः=अभाव से इसकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—अभाव दो प्रकार का है—उत्पत्ति से पहिले किसी वस्तु का अभाव होना प्रागभाव और किसी वस्तु के नष्ट होने से अभाव होना प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। किसी पदार्थ में लक्षण न होने से उसका ज्ञान होना प्रागभाव माना जायगा। अत्यंताभाव को भी कुछ लोग एक विशेष लक्षण कहते हैं, परन्तु अत्यंताभाव तो अनुत्पन्न वस्तु का ही हो सकता है उसके नाम और लक्षण हो ही नहीं सकते, इसलिये

उसे अभाव के अन्तर्गत नहीं मान सकते । इसलिये, अभाव दो प्रकार के ही माने जाते हैं । अब, शब्द की परीक्षा करेंगे ।

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥१३॥

सूत्रार्थ—विमर्शहेत्वनुयोगे=संशय हेतु होने पर, विप्रतिपत्तेः=विप्रतिपत्ति से शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व में, संशयः=संशय होने के कारण उसे सिद्ध करना है ।

व्याख्या—शब्द नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है । जहाँ आकाश का गुण है, वहाँ नित्य और जहाँ पृथिवी आदि तत्वों का गुण है, वहाँ उसका अनित्य होना सिद्ध होता है । इसमें विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं । किसी का कहना है कि शब्द केवल आकाश का गुण है और वह व्यापक तथा नित्य है । शब्द उत्पन्न नहीं होता, उसका केवल आविर्भाव होता है । किसी विद्वान् का मत है कि शब्द जड़ आकाश का गुण है और वह पृथिवी आदि के गुणों की तरह नाशवान् है । कोई आचार्य उसे इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान के समान उत्पन्न होने और नष्ट होने वाला मानते हैं । अब, अगले सूत्र में शब्द के अनित्य होने में युक्ति देते हैं ।

आदिमत्वात् ऐन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ॥१४॥

सूत्रार्थ—आदिमत्वात्=आदिमान होने से, ऐन्द्रियकत्वात्=इन्द्रिय का विषय होने से, च=और कृतकवत्=बनी हुई वस्तुओं के समान अनित्य होने से, उपचारात्=उपचार पूर्वक हुआ मानते हैं ।

व्याख्या—शब्द कारण वाला है, इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है और बनी हुई वस्तुओं के समान उपयोग में आने से उसे नित्य नहीं मान सकते । जो पदार्थ अनादि नहीं, आदि हैं, वे नित्य नहीं होते और

इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य वही पदार्थ होते हैं, जो संयोग से उत्पन्न होते हों। जो पदार्थ नित्य हैं, वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करता है, वैसे ही बोलने वाला मुख से बोल कर शब्द को बनाता है, इससे भी शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध होता है। शब्द संयोग जनित कैसे है ? इस शंका का समाधान यह है कि यदि होठों को बन्द करके बोलना चाहें तो शब्द निकलेगा नहीं, क्योंकि वायु के आने-जाने का मार्ग रुक जाता है और शब्द की उत्पत्ति वायु के संयोग बिना हो नहीं सकती। अब, इस युक्ति में व्यभिचार-दोष को दिखावेंगे।

न घटाभाव सामान्य नित्यत्वात् नित्येष्वनित्यवदुपचाराच्च ॥१५॥

सूत्रार्थ—घटाभाव=घट का अभाव, सामान्य नित्यत्वात्=सामान्य के नित्यत्व से, च=और, नित्येषु=नित्यों में, भी, अनित्यवत्=अनित्य के समान, उपचारात्=उपचार होने से, न=हेतु की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—शब्द के अनित्य होने से आदि वाला होना कहा है, वह ठीक नहीं। क्योंकि, घड़े आदि का अभाव भी आदि वाला है और आये दिन टूटता-फूटता रहने से अभाव को नित्य कहा जा सकता है। जब घड़ा नष्ट हो जाता है, तब उसकी उत्पत्ति भी सिद्ध होती है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले घड़े के अभाव का कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार आदि वाले घड़े का अभाव नित्य होना सिद्ध होने से, आदि वाले शब्द का नित्यत्व भी सिद्ध होता है। शब्द इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है, इसलिये नित्य नहीं हो सकता, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि घड़े का घटत्व भी इन्द्रियों के द्वारा ही ग्रहण होता है, इसमें घड़े आदि की जाति घटत्व, पटत्व आदि है, वह सब वस्तुओं में अपने-अपने लक्षण

सहित रहती है। इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाने से उसका अनित्यत्व नहीं कह सकते। इसीलिये शब्द का अनित्यत्व भी नहीं कहा जा सकता। जैसे, अनित्य पदार्थों के विभाग होते हैं, वैसे ही नष्ट न होने वाले आकाश के विभाग होना ही सम्भव है। जैसे आकाश, महाकाश, घटाकाश आदि। इस प्रकार विभाग होने पर भी आकाश को नाशवान नहीं माना जा सकता। जैसे, आत्मा कभी दुःखी, कभी सुखी अथवा कभी जन्म लेता, कभी मर कर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है, तो उससे आत्मा का अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, आत्मा नहीं मरता, शरीर ही मरता है। आत्मा की विभिन्न स्थिति उसके परिवर्तन की सूचक हैं, नष्ट होने की सूचक नहीं, इसी प्रकार शब्द के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥१६॥

सूत्रार्थ–तत्त्वभाक्तयोः=मुख्य व गौण के, नानात्वविभागात्=अनेक भेद होने से, अव्यभिचारः=व्यभिचार का हेतु नहीं है।

व्याख्या—मुख्य और गौण के भेद से व्यभिचार-दोष नहीं बनता। नित्य वस्तु की न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश होता है। आत्मा, आकाश आदि पदार्थ सदा एक रूप में रहते हैं, उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता, इसलिये वे यथार्थ रूप में नित्य हैं। जो वस्तु उत्पन्न होती है, वही नाशवान है। इसी से शब्द के नित्य होने में कोई दोष उपलब्ध नहीं होता। अब, व्यभिचार दोष के परिहार में तीसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं।

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—सन्तानानुमान=सन्तान अनुमान का, विशेषणात् =विशेषण होने से भी व्यभिचार-दोष नहीं बनता।

व्याख्या—शब्द में परम्परा के अनुमान विशेषण से भी शब्द का अनित्य होना सिद्ध होता है। वादी का यह कहना कि जाति का ज्ञान भी इन्द्रियों के द्वारा होता है, परन्तु यह अनित्य नहीं है, इसी प्रकार, शब्द भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने के कारण अनित्य नहीं हो सकता। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने मात्र से ही शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। शब्द सन्तान के समान उत्पन्न होने वाला है, वह वायु के प्रहार से तथा मुख आदि की चेष्टा से उत्पन्न होता है। इसलिये भी उसका नित्य होना नहीं माना जा सकता।

कारण द्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्व-व्यभिचार इति ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—प्रदेश शब्देन=प्रदेश शब्द से, कारणद्रव्यस्य=कारण द्रव्य का, अभिधानात्=कथन होने से, नित्येषु=नित्य वस्तुओं में, अपि=भी, इति - यह, अव्यभिचार:=व्यभिचार का हेतु नहीं है।

व्याख्या—कारण द्रव्य को प्रदेश शब्द के द्वारा कहा जाने से नित्य पदार्थों में भी व्यभिचार-दोष का प्रसंग नहीं आता। यदि आत्मा का प्रदेश अथवा आकाश का प्रदेश कहा जाता है तो इससे आत्मा अथवा आकाश के कारण द्रव्य से तात्पर्य नहीं समझना चाहिये। क्योंकि, परिच्छिन्न द्रव्य के साथ आकाश का व्यापक संयोग नहीं है। आकाश तो स्वयं ही बहुत विशाल है, उसका घट आदि वस्तुओं के साथ संयोग का होना, एकदेशीय है, सर्वदेशीय नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मा का प्रदेश कहने से समझ लेना चाहिये। इससे यही सिद्ध होता है कि कारण द्रव्य का प्रदेश कथन करने से नित्य पदार्थों में व्यभिचार दोष की सिद्धि नहीं होती। अब, शब्द का अनित्यत्व बताते हैं—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥१६॥

सूत्रार्थ—उच्चारणात्=उच्चारण से, प्राक्=पहिले, अनुपलब्धेः=उपलब्ध न होने से, च=और, आवरणाद्यनुपलब्धेः आवरण आदि प्रतिबंधों के न मिलने से शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—उच्चारण करने से पहिले शब्द का कहीं अस्तित्व नहीं होता। यदि अस्तित्व होता, तो सुनाई पड़ता। यदि यह कहें कि शब्द छिपा रहता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, शब्द छिपा रहता तो कोई आवरण छिपने के लिये होना चाहिये था। परन्तु, आवरण भी नहीं मिलता। इससे यही मान्यता ठीक है कि शब्द अनित्य है—वह मुख आदि की चेष्टा से तथा वायु के संयोग से उत्पन्न होता है, इसलिये उत्पत्ति वाला है और जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं हो सकती। यदि शंका करें कि शब्द तो नित्य है, उच्चारण से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, तो यह शंका निर्मूल है। क्योंकि, उच्चारण से शब्द की अभिव्यक्ति (प्रकट होना) नहीं, बल्कि उत्पत्ति ही होती है। जब बोलने की आवश्यकता होती है, तब आत्मा की प्रेरणा से हृदयस्थ वायु कण्ठ और तालु आदि स्थानों पर एक प्रकार का प्रहार करता है। जैसे वीणा के तारों पर अंगुली के प्रहार से विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही कण्ठ आदि स्थानों पर वायु के द्वारा प्रहार होने से विभिन्न शब्दों को उत्पन्न होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न होने वाला है (अब, पूर्वपक्ष के आरोप को अगले सूत्र में कहते हैं।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥२०॥

सूत्रार्थ—तदनुपलब्धेः=उस आवरण की उपलब्धि न होना,

अनुपलम्भात्=प्रतीत न होने से, आवरणोपपत्तिः=आवरण का अभाव नहीं है।

व्याख्या—उत्तर पक्ष का यह कहना कि शब्द को छिपे रहने के लिये कोई आवरण प्रतीत नहीं होता, इसलिये शब्द का छिपना सिद्ध नहीं होता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि, आवरण के दिखाई न देने से ही आवरण का न होना नहीं माना जा सकता। इस पर अन्य युक्ति अगले सूत्र में देते हैं।

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—अनुपलम्भात्=प्रतीत न होने से, अपि=भी, अनुपलब्धि=अप्राप्ति के, सद्भाववत्=सद्भाव के समान (होने के समान), अनुपलम्भात्=दिखाई न देने मात्र से, आवरण-अनुपपत्तिः=आवरण का न होना, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने को अनुपपत्ति कहते हैं और अनुपलब्धि का अभाव ही उसका प्रत्यक्ष होना है। यदि आवरण की प्राप्ति पर भी उसकी अप्राप्ति मानें तो भी उसके अस्तित्व में कोई रुकावट नहीं होती। तात्पर्य यह है कि कण्ठ, मुख, वायु आदि संयोग कारणों से, आवरण को पृथक् कर, शब्द प्रत्यक्ष होता है, वह पहिले से विद्यमान रहता है, इसलिये अविद्यमान शब्द का प्रत्यक्ष होना नहीं मान सकते। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द अनित्य नहीं है। अब इस पक्ष का समाधान करते हैं—

अनुपलम्भात्मकत्वात्तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—अनुपलब्धेः=आवरण के उपलब्ध न होने पर और, अनुपलम्भात्मकत्वात्=उपलम्भ का अभाव होने से, अहेतुः=यह युक्ति मानने योग्य नहीं हो सकती।

व्याख्या—अस्तित्व उसी वस्तु का माना जाता है जो वस्तु उपलब्ध होती है, जिसकी उपलब्धि नहीं, उसका अभाव कहना ही युक्ति संगत है। ज्ञान का न होना अनुपलब्धि है, इसलिये उसका होना नहीं कह सकते। यदि आवरण है तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिये और वह अनुभव में आना चाहिये। जब तक आवरण के होने का ज्ञान नहीं होगा, तब तक आवरण की सत्ता सिद्ध नहीं होगी। यदि कोई कहे कि किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी उसका अस्तित्व सिद्ध है तो यह केवल भ्रम होगा। क्योंकि अभाव का कारण अभाव नहीं माना जा सकता। जो पदार्थ अभाव रूप है, इसीलिये उसकी उपलब्धि नहीं है। आवरण का अभाव तो है नहीं, फिर उसकी उपलब्धि क्यों नहीं? यदि उपलब्धि नहीं, तो आवरण का न होना ही कहना पड़ेगा। अब, पूर्वपक्ष की युक्ति देते हैं।

अस्पर्शत्वात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—अस्पर्शत्वात्=स्पर्श-रहित होने से भी शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—सभी संयुक्त पदार्थ स्पर्श वाले हैं अर्थात् छूने से वे अनुभव में आते हैं। जो पदार्थ संयुक्त नहीं होते, उनका स्पर्श नहीं हो सकता। शब्द भी स्पर्श-रहित है और संयुक्त नहीं, बल्कि सूक्ष्म है। जो पदार्थ संयुक्त हैं, वही अनित्य होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द नित्य है। अब, इसका समाधान करते हैं—

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—कर्मानित्यत्वात्=कर्म के नित्य न होने से, न=उपरोक्त हेतु मान्य नहीं है।

व्याख्या—कर्म भी स्पर्श-रहित है, परन्तु, वह नित्य नहीं है।

इसी से सिद्ध होता है कि स्पर्श-रहित होने से शब्द भी नित्य नहीं हो सकता। अब, इसके नित्यत्व में प्रमाण देते हैं।

नाणुनित्यत्वात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—अणुनित्यत्वात्=अणु के नित्य होने से भी, यह कथन, न=उपयुक्त नहीं है।

व्याख्या—अणु स्पर्शवान् होने पर भी नित्य है। इसलिये स्पर्श वाला पदार्थ अनित्य होता है और स्पर्श-हीन पदार्थ नित्य होता है, यह कहना ठीक नहीं है। अगले सूत्र में शब्द के नित्यत्व की और भी युक्ति देते हैं।

सम्प्रदानात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—सम्प्रदानात्=विद्यमान वस्तु के देने से भी ऐसा ही मानना युक्ति संगत है।

व्याख्या—शब्द का सम्प्रदान होने से भी उसका नित्य होना सिद्ध है अर्थात् गुरु द्वारा शिष्य को उपदेश दिया जाता है, उस उपदेश के जो शब्द हैं, वह शिष्य के पास सुरक्षित रहते हैं और जब वह शिष्य अपने शिष्य को उन्हीं शब्दों द्वारा उपदेश देता है, तब वह उस शिष्य की थाती हो जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत शब्द-ज्ञान के चलते रहने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता है। दूसरे गुरु द्वारा शिष्य को विद्या-दान दिया जाता है। दान में वही वस्तु दी जा सकती है जो पहिले से विद्यमान हो, अविद्यमान वस्तु का दान नहीं किया जा सकता। इस युक्ति से भी शब्द का उच्चारण से पूर्व होना सिद्ध है। इस प्रकार शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है।

तदन्तरालाऽनुपलब्धेरहेतुः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—तदन्तरालाऽनुपलब्धेः=विद्यार्थी के हृदय में शब्द की उपलब्धि नहीं होती, यह, अहेतुः=हेतु मान्य नहीं है।

व्याख्या—पूर्व पक्ष उपरोक्त सूत्र के समाधान में कहता है कि जब विद्यार्थी को उपदेश देने से पहिले और बाद में भी शब्द की उपलब्धि नहीं होती, तब शब्द के नित्य होने में यह हेतु किसी प्रकार ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, गुरु के बोलते समय शब्द उत्पन्न होता है, तब उसके पहिले पीछे भी विद्यमान रहने का क्या प्रमाण है ? यदि शब्द नित्य होता तो वह बोलने से पहिले भी सुनाई देता और चुप हो जाने पर सुनाई देना बन्द नहीं हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द बोलने के पहिले-पीछे विद्यमान नहीं रहता, इसलिए वह नित्य भी नहीं हो सकता। अब, उत्तर पक्ष को पुनः प्रस्तुत करते हैं—

अध्यापनादप्रतिषेध ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—अध्यापनात्=अध्यापन के होने से, अप्रतिषेध=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—गुरु के हृदय में पहिले से जो शब्द विद्यमान रहते हैं, उन्हीं में से जिन शब्दों का उपदेश रूप में कथन करना होता है, उन्हें कहा जाता है। इससे शब्दों का, बोलने से पहिले-पीछे भी अस्तित्व रहना सिद्ध होता है। यदि, यह मान लें कि उ देश के वे शब्द गुरु के हृदय में पहिले से विद्यमान नहीं रहते तो गुरु और शिष्य में जो अन्तर रहना चाहिए, वह नहीं रह सकता। फिर तो जैसा शिष्य ज्ञान-रहित, वैसा ही गुरू भी ज्ञान-रहित ही होगा। जब उसके पास शब्द ही नहीं हैं, तो वह पढ़ायेगा क्या ? यदि यह कहें कि शब्द बाद में नहीं रहता, तो यह भी ठीक नही है। क्योंकि बाद में शब्द के न रहने से शिष्य को दी गई विद्या तभी तक रह सकती है, जब तक शब्द बोले जांय। इसके बाद प्राप्त विद्या भी नष्ट हो जानी चाहिए। जैसे, अँधेरा होने पर विद्यमान वस्तुऐं दिखाई नहीं देतीं, उसमें प्रकाश का अभाव होता है, वस्तुओं का अभाव नहीं होता, वैसे ही मुख, कण्ठ, तालु आदि के प्रयत्न-रहित होने पर शब्द भी प्रकट नहीं होता, परन्तु, उसकी सत्ता का अभाव नहीं

होता। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द नित्य है। अब, अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं।

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—अध्यापनात्=अध्यापन होने से, अन्यतरस्य=दूसरे पक्ष का (अनित्य कहने वाले पक्ष का) अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता, इसलिये, उभयोः=दोनों, पक्षयोः=पक्षों में समानता है।

व्याख्या—शब्द नित्य हो अथवा अनित्य, दोनों स्थितियों में ही अध्यापन कार्य चल सकता है। विद्या-दान अन्य विद्यमान वस्तुओं के समान नहीं है। इसमें तो गुरु अपने प्रयत्न विशेष से शिष्य को पढ़ाता है। प्रयत्न वही है कि उसे बोलने के लिये मुख, कण्ठ, तालु आदि से काम लेना पड़ता है। इसलिये, विद्या-दान को विद्यमान वस्तु के दान के समान नहीं मान सकते। इससे शब्द का अनित्यत्व ही सिद्ध होता है। इस पक्ष का पुनः समाधान करते हैं।

अभ्यासात् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—अभ्यासात्=अभ्यास के होने से शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—बार-बार के प्रयोग को अभ्यास कहते हैं। शब्द का उच्चारण बारम्बार होता है, इससे शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है। जैसे कोई मनुष्य कहे कि मैंने अमुक वस्तु को कई बार देखा। यदि वह वस्तु नित्य न होती तो कई बार नहीं देखी जा सकती थी। इसी प्रकार शब्द को अनेक बार बोलते देखकर शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है। अगले सूत्र में इस पक्ष का परिहार करते हैं।

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—अन्यत्वे=भेद होने के कारण, अपि=भी,

अभ्यासस्य=अभ्यास का, उपचारात्=उपचार होने से, न=समीचीन नहीं है।

व्याख्या—नित्य न होते हुए भी अभ्यास का व्यवहार बारम्बार हो सकता है। इसलिये उपरोक्त मान्यता ठीक नहीं है। जैसे दो बार खाता है, मकान को तीन बार झाड़ता-बुहारता है, इस प्रकार अनेक बार करने से कोई कार्य नित्य नहीं हो सकता। इसलिये शब्द के बार-बार उच्चारण किये जाने से उसे नित्य नहीं मान सकते। अगले सूत्र में भेद का निषेध करते हैं।

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥३२॥

सूत्रार्थ—अन्यस्मात्=अन्य पदार्थों से, अनन्यत्=अभिन्न होने से तथा, अनन्यत्वात्=स्वरूप से अनन्य होने से भी, अनन्यत्=अनन्य ही है, इति=इस प्रकार, अन्यत=भेद का, अभावः=अभाव है।

व्याख्या—भेद होने पर भी अभ्यास का उपचारपूर्वक होना सिद्ध होता है, इसलिये, भेद कोई पदार्थ नहीं। यदि भेद होना स्वीकार करें तो उसी वस्तु का दुबारा होना नहीं कह सकते, बल्कि अन्य वस्तु का होना मानना पड़ेगा। इसलिये भेद मानने पर एक ही शब्द का बार-बार कहना सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये वस्त्र शब्द को चाहे जितनी बार कहो, उससे एक वस्तु अर्थात् वस्त्र का ही बार-बार बोध होगा, किसी भिन्न वस्तु का ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार बार-बार कहे जाने से शब्द का नित्यत्व ही सिद्ध होता है। अगले सूत्र में इसका खण्डन करेंगे।

तदभावेनास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥३३॥

सूत्रार्थ—तदभावे=भिन्नता का अभाव होने पर, अनन्यता=अभिन्नता, न अस्ति=नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, तयोः

=उन दोनों की, इतरेतर-अपेक्ष-सिद्धेः=पारस्परिक अपेक्षा सिद्ध होती है।

व्याख्या—जो अन्य नहीं, वह अनन्य कहा जायगा, इसलिये अन्य से अन्य कह कर खण्डन करना युक्ति-संगत नहीं है। जब अन्य कोई पदार्थ नहीं, तो उसके अभाव का भी प्रश्न नहीं उठता। इसलिये अन्य की सिद्धि के बिना, एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि एक और अन्य यह दोनों एक दूसरे की अपेक्षा से ही हैं। जब, अन्य के अभाव में अनन्यता सिद्ध नहीं होती, तो अनन्यता के अभाव से शब्द का नित्य होना ही कैसे सिद्ध हो सकता है ? अब, शब्द के नित्यत्व को पुनः कहेंगे।

विनाशकारणानुपलब्धेः ।। ३४ ।।

सूत्रार्थ—विनाश कारण-अनुपलब्धेः=विनाश कारण के उपलब्ध न होने से भी शब्द की नित्यता सिद्ध है।

व्याख्या—शब्द के नाश होने का कोई कारण नहीं मिलता। इसलिये शब्द के नित्य होने की सिद्धि है। अनित्य पदार्थ का विनाश किसी न किसी कारण से ही होता है। जैसे घड़ा टूटने से नष्ट होता है, वस्त्र फटने से नष्ट होता है, ऐसे ही अन्य पदार्थों के नष्ट होने का भी हेतु होता है। परन्तु, शब्द की अनित्यता की सिद्धि के लिए उसके विनाश का कोई कारण दिखाई नहीं देता। अब इसका निषेध करते हैं।

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ।।३५।।

सूत्रार्थ—अश्रवणकारणानुपलब्धे=सुनाई न पड़ने का कोई कारण उपलब्ध न होने से, सतत श्रवण प्रसङ्गः=सदा सुनाई देते रहने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—शब्द के सुनाई न पड़ने का कोई कारण दिखाई नहीं देता, इस लिये शब्द हमेशा सुना जाना चाहिये। परन्तु, हमेशा सुनाई

नहीं पड़ता। इससे, कारण दिखाई न पड़ने से ही किसी बात की सिद्धि नहीं हो सकती तो विनाश का कारण दिखाई न देने मात्र से ही उसका नित्यत्व सिद्ध नहीं होता। इस पक्ष में एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं।

उपलभ्यमाने चनुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—च=एवं, उपलभ्यमाने=विनाश का कारण होने से, अनुपलब्धेः=उपलब्ध न हुए का, असत्वात्=अभाव है, इसलिये, अनपदेशः=यह हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—शब्द के नित्यत्व का जो हेतु कहा है, वह स्वरूप सिद्ध होने से शब्द के नित्य होने को सिद्ध नहीं करता। अर्थात् शब्द के नष्ट होने का कारण अनुमान से जाना जाता है, इसलिये शब्द को नित्य सिद्ध करने में विनाश कारण के न होने को प्रस्तुत करना युक्तियुक्त नहीं है। अगले सूत्र में शब्द के नष्ट होने का कारण कहते हैं।

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—पाणि निमित्त प्रश्लेषात्=हाथ के निमित्त से, पकड़ लेने पर, शब्दाभावे=शब्द का अभाव होने से, अनुपलब्धिः=उसको विनाश कारण की अप्राप्ति, न=नहीं होती।

व्याख्या—घण्टे को बजा कर हाथ से पकड़ लें तो उससे शब्द बन्द हो जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य है। दण्ड से चोट मारने पर वह शब्द उत्पन्न हुआ था और हाथ के संयोग से नष्ट हो गया, तब वह नित्य कैसे कहा जायगा? अब इसका विवेचन फिर करते हैं।

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने
तन्नित्यत्व प्रसङ्गः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ -विनाश कारणानुपलब्धेः=विनाश-कारण के न

विभाग भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं करता। शब्द के दो भेद हैं, जिनमें से ध्वन्यात्मक शब्द का विवेचन किया जा चुका, अब वर्णात्मक शब्द की परीक्षा प्रारम्भ करेंगे।

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥४१॥

सूत्रार्थ—विकारादेशोपदेशात्=विकार तथा आदेश का उपदेश होने से, संशयः=दोनों पक्ष संदेहास्पद हैं।

व्याख्या—वर्णात्मक शब्द में विकार और आदेश दोनों पाये जाते हैं, इसलिये इसमें संदेह है। जैसे, व्याकरण के अनुसार 'इ' को 'य' किया जाता है, तब यकार इकार का विकार होता है, यथा—सुधी × उपास्यः =सुध्युपास्यः। विकार का तात्पर्य है—अपने रूप को बदल कर दूसरे रूप में हो जाना। जैसे दूध का दही होना। आदेश भी उसे कहते हैं, जो स्थानीय के स्थान में होता है, जैसे 'इ' के स्थानमें 'य' होता है। इसी को कोई आदेश कहते हैं, कोई विकार कहते हैं। यदि कहें कि यकार को इकार का विकार ही क्यों न मान लें ? यदि ऐसा मानें तो इकार यकार का कारण हो जायगा और ऐसा होने पर 'इ' का स्वरूप ही न रहेगा जैसे दूध का दही बन जाने पर दूध का नाश हो जाता है। परन्तु शब्द में इकार का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इसलिये विकार नहीं कह सकते। यदि कहें कि दो कपालों के मिलाने पर घड़ा रूप कार्य बन जाता है, वहाँ कारण रूप कपाल का नाश नहीं होता, परन्तु, कपाल और घड़े में कारण और कार्य का सम्बन्ध है, जो कि इकार और यकार में नहीं है, इसलिये इसे आदेश कहना ही उपयुक्त है। यदि कहें कि इकार और यकार में भी कारण और कार्य का सम्बन्ध मानने में क्या हानि है ? तो इसका समाधान यह है कि यदि इकार में कुछ अधिक होकर यकार बनता तो उसका कारण कार्य का भाव हो सकता था, परन्तु ऐसा न होने से कारण-कार्य भाव नहीं हो सकता। जैसे किसी गाड़ी में बैल के स्थान पर घोड़े को जोत दें तो घोड़ा बैल का स्थानापन्न तो होता है, परन्तु वह बैल का

का कार्य नहीं होता। इसी प्रकार, इकार के स्थान में यकार बोल देना विकार नहीं, आदेश हो सकता है। सभी अक्षर नित्य हैं, इसलिये किसी अक्षर का कोई अक्षर विकार नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिविवृद्धौ विकार विवृद्धः ॥४२॥

सूत्रार्थ—प्रकृति विवृद्धौ=प्रकृति की वृद्धि से, विकार विवृद्धः=विकार की भी वृद्धि होती है।

व्याख्या—जब किसी कार्य का उपादान कारण बढ़ जाता है, तो कार्य की भी वृद्धि हो जाती है। जैसे, एक सेर दूध का जितना दही बनेगा, दो सेर दूध से उसका दुगुना दही बनेगा। परन्तु वर्णों में ऐसा नहीं होता। जैसे, एक इकार से यकार बनेगा, वैसे दो इकार के संयोग से यकार दुगुना नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है कि वर्णों में विकार नहीं होता। अगले सूत्र में इस पर शंका करते हैं।

न्यून समाधिकोपपत्तेर्विकाराणामहेतुः ॥४३॥

सूत्रार्थ—अहेतुः=उपरोक्त हेतु माम्य नहीं हो सकता, क्योंकि, विकाराणाम्=विकारों का, न्यूनसमाधिक=कम, अधिक और समान होना, उपपत्तेः=पाया जाता है।

व्याख्या—प्रकृति का कम या अधिक होना विकारों के कम-अधिक होने में प्रमाण नहीं हो सकता। यह कहना कि 'इ' बड़ी होने से 'य' बड़ा नहीं होता, इससे वर्णों में विकार सिद्ध नहीं होता, उचित हेतु नहीं है। क्योकि, विकारों का कम, अधिक और समान तीनों प्रकार से उत्पन्न होना पाया जाता है। बड़े कारणों से छोटे कार्य भी उत्पन्न होते हुये देखे जाते हैं। जैसे रुई बहुत होती है, परन्तु उसका कपड़ा थोड़ा बनता है और वट का बीज छोटा होता है, उससे कितना बड़ा वृक्ष बन जाता है, यह कम कारण से अधिक कार्य हुआ और समान यह है कि स्वर्ण जितना होगा, उतना ही आभूषण बनेगा। इससे सिद्ध हुआ कि

विकार न्यून, अधिक और समान तीनों प्रकार के पाये जाते हैं, इसलिये वर्णों में विकार का मानना अयुक्त नहीं है। अब, इसका समाधान करते हैं।

नाऽतुल्यप्रकृतीनां विकार विकल्पात् ॥४४॥

सूत्रार्थ—अतुल्य प्रकृतीनाम्=विलक्षण प्रकृति से उत्पन्न, विकार-विकल्पात्=विकार को विरूपता से, न=ऐसा कहना युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता।

व्याख्या—कारण की विरूपता से कार्य की विरूपता होती है। इसलिये प्रकृति को बड़ा, छोटा और समान कह कर विकार दिखाया और वर्णों में विकार न होने का निषेध किया, वह अनुपयुक्त है। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं, एक जैसे नहीं होते। वट वृक्ष से आम उत्पन्न होता कभी नहीं देखा जाता। यदि 'इ' का विकार 'य' होता तो इकार और यकार में सजातीयता होनी चाहिये थी। परन्तु, ऐसा न होने से विकार की मान्यता नहीं बनती। अब पूर्व-पक्ष की पुष्टि में कहते हैं—

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥४५॥

सूत्रार्थ—द्रव्य विकार वैषम्यवत्=द्रव्य विकार में विषमता होने के समान, वर्णविकारविकल्पः=वर्ण विकार में भी विकल्प समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे द्रव्यों से उत्पन्न विकार विषम हो जाते हैं, वैसे ही वर्णों से विषम विकारों की उत्पत्ति समझनी चाहिये। मीठे दूध से भी खट्टा दही आदि विषम विकार उत्पन्न होते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, ऐसे ही ह्रस्व अथवा दीर्घ इकार से भी विषम यकार हो जाता है। अगले सूत्र में इसका खंडन करेंगे।

न विकार धर्माऽनुपपत्तेः ॥४६॥

सूत्रार्थ—विकार धर्मानुपपत्तेः=यकार आदि वर्णों में विकार धर्म की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—विकार के धर्मों की उपलब्धि न होने से इकार का विकार यकार नहीं हो सकता। मिट्टी का विकार मिट्टी और स्वर्ण का विकार स्वर्ण ही होगा। परन्तु इकार और यकार में ऐसा लक्षण नहीं मिलता, उसका स्वरूप भिन्न होने से उसे विकार नहीं मान सकते। शब्द तो गुण है वह किसी दूसरे गुण का आश्रय नहीं हो सकता। जो गुण विकार से उत्पन्न होने वाले हैं, वे द्रव्य में ही होते हैं। क्योंकि, द्रव्य से परमाणुओं का संघात होने के कारण कुछ अंश पृथक् होकर और कुछ अन्य अंश मिलकर एक पृथक् रूप धारण कर लेते हैं, वही विकार है। परन्तु, गुण न तो संयुक्त होता है और न उसमें प्राणियों का संघात है। जब गुण में विकार धर्म का होना ही, सम्भव नहीं, तो शब्द में ही विकार कैसे होगा? इसलिये यही मान्यता ठीक है कि वर्ण में विकार नहीं होता। इसका और भी हेतु है—

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥४७॥

सूत्रार्थ—विकार प्राप्तानाम्=विकार को प्राप्त द्रव्यों की, अपुनरावृत्तेः=पुनरावृत्ति नहीं होती, इससे भी वर्ण का विकार होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—जो वस्तु विकार को प्राप्त हो जाती है, वह पुनः अपने यथार्थ स्वरूप अर्थात् कारण रूप को प्राप्त नहीं होती। यह स्पष्ट देखा जाता है कि जब दूध का दही बन जाता है, तब उसका दुबारा दूध नहीं बनता। परन्तु वर्ण में इकार का यकार हो जाता है तो यकार का इकार भी हो जाता है। इसलिये वर्ण में विकार मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। अब, इस पर पुनः आक्षेप करते हैं।

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥४८॥

सूत्रार्थ—सुवर्ण आदीनाम्=स्वर्ण आदि की, पुनरापत्तेः= पुनरावृत्ति से, अहेतुः=यह हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या—ऊपर कहा गया है कि विकृत द्रव्य अपने यथार्थ स्वरूप में पुनः नहीं आता, जैसे दही बनने के बाद दूध पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करता। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, सोने के आभूषण बनने पर उसका रूप बदल जाता है और आभूषणों को तोड़कर उसे फिर असली रूप में किया जा सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि उपरोक्त हेतु ठीक नहीं है। स्वर्ण के विकार आभूषण का पुनः अपना स्वरूप प्राप्त करने के समान ही इकार का यकार होकर यकार से इकार होता है। अब इसका समाधान करते हैं—

तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ॥४९॥

सूत्रार्थ—तद्विकाराणाम्=सुवर्ण के विकारों के, सुवर्ण-भावाव्यतिरेकात्=सुवर्ण रूप होने से, यह दृष्टान्त उचित नहीं है।

व्याख्या—सुवर्ण के विकारभूत द्रव्य सुवर्ण ही रहेंगे अर्थात् आभूषण बन जाने से सुवर्ण की सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता और न आभूषण सुवर्ण से कोई भिन्न वस्तु हो जाते हैं, वह तो सुवर्ण का सुवर्ण ही रहता है। इसलिये, यहाँ पर यह दृष्टान्त युक्त नहीं है। यदि विकृत हुआ द्रव्य भिन्न धर्म वाला होकर अपने यथार्थ रूप में पुनः आ जाता हो, तो उसका दृष्टान्त ही यहाँ उपयुक्त हो सकता है। जैसे सुवर्ण में सुवर्ण का धर्म रहता है, वैसे इकार के यकार हो जाने पर उसमें इकार का धर्म नहीं रहता। इसलिये, यहाँ उक्त दृष्टान्त का कोई महत्व नहीं है। अब, इस पर पुनः आक्षेप करते हैं।

वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥५०॥

सूत्रार्थ—वर्णत्वाऽव्यतिरेकात्=वर्णत्व में व्यतिरेक न होने से, वर्णविकाराणाम्=वर्णों के विकार का, अप्रतिषेध=प्रतिषेध होना नहीं बनता।

व्याख्या—वर्णत्व से अलग होने से वर्णों के विकार का निषेध नहीं होता। जैसे सुवर्ण का विकार सुवर्ण है, वैसे ही इकार का विकार यकार है। अर्थात् सुवर्ण के आभूषण में सुवर्ण का धर्म रहने के समान ही इकार से बने यकार में भी वर्णत्व धर्म रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि वर्ण में विकार निषेध करना युक्तिसङ्गत नहीं है। अब इसका समाधान कहेंगे।

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ॥५१॥

सूत्रार्थ—सामान्यवतो धर्मयोगः=कुण्डल आदि धर्म से युक्त सुवर्ण के साथ सम्बन्ध का रहना, सामान्यस्य=कुण्डलादि के साथ नहीं होता।

व्याख्या—यकार इकार का विकारभूत नहीं है, उसकी प्राप्ति में सुवर्ण का उदाहरण ही युक्ति सङ्गत है। क्योंकि, सुवर्ण स्वयं ही धर्म है तो फिर उसके विकार कुण्डल आदि आभूषण उसके धर्म नहीं माने जा सकते। वर्णत्व धर्म में समानता है, और इकार-यकार दोनों में इसका रहना सिद्ध होता है। इसलिये यकार को इकार का विकार नहीं मान सकते। अगले सूत्र में, इसी की पुनः पुष्टि करेंगे।

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥५२॥

सूत्रार्थ—नित्यत्वे=नित्य होने के पक्ष में, विकारात्=विकार से, च=और, अनित्यत्वे=नित्य न होने के पक्ष में, अनवस्थानात्=अनवस्था होने से विकार की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—यदि वर्ण को नित्य मानने लगें तो नित्य वस्तु में विकार नहीं होता। परन्तु, वर्ण में विकार है तो उसे नित्य नहीं मान सकते। यदि वर्ण को अनित्य मानें तो दूसरे वर्ण के उच्चारण से ही पहिले वर्ण का नाश हो जाता है, तब वर्ण के अनवस्थित होने से उसमें विकार नहीं हो सकता। इस प्रकार नित्य या अनित्य कुछ भी मानें, दोनों ही दशाओं में, वर्ण में विकार होने की सिद्धि नहीं हो पाती। इसलिये, यही मान्यता ठीक है कि वर्ण किसी का विकार नहीं है। अगले सूत्र में इसका खण्डन करेंगे।

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्ण विकाराणामप्रतिषेधः ॥५३॥

सूत्रार्थ—नित्यानाम्=नित्य पदार्थों के, अतीन्द्रियत्वात्=अतीन्द्रिय होने से, च=और, तद्धर्मविकल्पात्=उनमें धर्म के भेद से, वर्णविकाराणाम्=वर्ण विकार का, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—नित्य पदार्थों के धर्म अलग-अलग हैं। उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होते। इन्द्रियों से ग्रहण होने वाले मनुष्य जाति, पशु जाति आदि हैं और इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाले आकाश, काल आदि हैं। इसी प्रकार कोई नित्य विकारी है, कोई विकार रहित है। परन्तु, वर्ण नित्य होने पर भी विकारवान् है। यदि यह शङ्का करें कि विकार और अविकार तो परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, यह दोनों ही एक नित्य पदार्थ में कैसे हो सकते हैं? तो इसका समाधान यह है कि जैसे नित्य पदार्थों में इन्द्रिय ग्राह्य होना और इन्द्रिय-ग्राह्य न होना, यह विरुद्ध धर्म उपलब्ध होते हैं, वैसे ही उनमें विकार और अविकार भी रह सकते हैं। इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य होना नित्य पदार्थ में दोष नहीं लाता, परन्तु, विकार से

नित्यत्व का विरोध है, क्योंकि एक पदार्थ में दो विरुद्ध गुण नहीं रह सकते । अगले सूत्र में अनित्य पदार्थ के विकारी होने का खण्डन करेंगे ।

अनवस्थायित्वेच वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥५४॥

सूत्रार्थ—अनवस्थायित्वे=शब्द के अनवस्थित होने पर, च=भी, वर्णोपलब्धिवत्=वर्ण की उपलब्धि के समान, तद्विकारोपपत्तिः=वर्ण-विकार की उपलब्धि होती है ।

व्याख्या—शब्द के अनवस्थित होने पर भी वर्णात्मक शब्द प्रत्यक्ष सुनाई देता है, उसी प्रकार विकार का उपलब्ध होना भी सिद्ध होता है । अगले सूत्र में इस खण्डन का निराकरण करते हैं ।

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः ॥५५॥

सूत्रार्थ—विकारधर्मित्वे=विकार धर्मी होने के कारण, नित्यत्वाभावात्=नित्यत्व के अभाव से, च=और, कालान्तरे=कालान्तर से, विकारोपपत्तेः=विकार की उपपत्ति मिलने पर, अप्रतिषेधः=निषेध को युक्ति-सङ्गत मानना ठीक नहीं है ।

व्याख्या—विकारी होने पर उसका नित्य होना नहीं कह सकते । क्योंकि, धर्म की विभिन्नता एक ही प्रकार के पदार्थ में नहीं हो सकती, जैसे कि किसी को विकारी कहा और किसी को अविकारी कहा । यथार्थ में कोई भी नित्य पदार्थ में, कालान्तर में विकार आ सकता है, तो यह भी नहीं माना जा सकता । क्योंकि जब इकार को सुनते हैं तो उसमें यकार की ध्वनि सुनाई नहीं देती । अनित्य पदार्थ में भी इसी प्रकार विकार की उपपत्ति सिद्ध नहीं होती । क्योंकि, विकार तो क्षण भर ठहर कर नष्ट हो जाता है । इसी की पुष्टि में एक अन्य हेतु अगले सूत्र में प्रस्तुत किया जाता है ।

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥५६॥

सूत्रार्थ—वर्ण विकाराणाम्=वर्ण विकारों की, प्रकृत्यनियमात्=प्रकृति का नियम न होने से विकार की मान्यता नहीं बनती ।

व्याख्या—विकार को मानने में यह भी दोष आता है कि वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम नहीं है। जैसे, दूध का विकार दही होने में दूध प्रकृति है और दही उसका विकार है। वैसे इकार का विकार यकार नहीं है। किन्तु, 'विध्यति' आदि प्रयोगों में तो यकार प्रकृति हुई और उससे इकार रूप विकार बना। इस प्रकार वर्ण में प्रकृति और विकार का नियम न होने से शब्दों में विकार की मान्यता सिद्ध नहीं होती। अगले सूत्र में इस पर छलवाद से आक्षेप करते हैं।

अनियमे नियमान्नाऽनियमः ॥५७॥

सूत्रार्थ—अनियमे=अनियम में, नियमात्=नियम होने के कारण, अनियमः=अनियम, न=नहीं रहता।

व्याख्या—अनियम के नियम होने से अनियम तो रहा ही नहीं, फिर अनियम कहने से क्या लाभ ? अर्थात् वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम न होना नियमित हो गया तो यह भी नियम बन गया, इसलिये अनियम कहना युक्तिसङ्गत सिद्ध नहीं होता। अब इसका उत्तर देते हैं।

नियमाऽनियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥५८॥

सूत्रार्थ—च=और, नियमाऽनियम=नियम और अनियम परस्पर, विरोधात्=विरोधी होने से, नियमात्=नियम होने का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—नियम और अनियम परस्पर विरोधी हैं और जब यह नियमित होगया कि वर्ण विकार में प्रकृति का नियम नहीं। अर्थात् जो नियम नहीं था, उसे नियम मान लिया गया तो अनियम कहना भी युक्ति-सङ्गत नहीं है। इस प्रकार वर्ण विकार मानना ठीक ही है। यदि वर्णों में विकार न होता तो उनमें परिवर्तन क्यों होते हैं? क्योंकि अविकारी पदार्थ में परिवर्तन होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस पर सूत्रकार अपना मत अगले सूत्र में प्रकट करते हैं।

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धि लेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ।।५९।।

सूत्रार्थ—तु = परंतु, गुणान्तरापत्ति-उपमर्द-ह्रास-वृद्धि-लेश-श्लेषेभ्यः = गुणान्तरापत्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेष से, विकारोपपत्तेः = विकार की उपपत्ति होने पर, वर्णविकारः = वर्ण में विकार का होना पाया जाता है।

व्याख्या—'तु' शब्द से उपरोक्त का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वर्ण-प्रकृति से वर्ण के अन्तर को विकार मानना तो उपरोक्त युक्तियों से असिद्ध हो गया। परन्तु, गुणान्तर-आपत्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेष से विकार की उपलब्धि होने से वर्ण विकार माना जा सकता है। गुणान्तरापत्ति का तात्पर्य उदात्त का अनुदात्त हो जाना इत्यादि है। उपमर्द का तात्पर्य है अस् का भू और ब्रू का वच होना इत्यादि। ह्रास का तात्पर्य दीर्घ का ह्रस्व हो जाना और वृद्धि—ह्रस्व का दीर्घ होना, लेश में अस् के 'अ' का लोप होना इत्यादि तथा श्लेष—इट् आदि से वर्णों में विकार का व्यवहार। इस प्रकार गुणान्तरापत्ति, उपमर्द आदि के होने से वर्ण-विकार की मान्यता सिद्ध नहीं होती।

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ।।६०।।

सूत्रार्थ—विभक्ति-अन्ताः = विभक्ति के अन्त वाले, ते = वर्ण, पदम् = पद कहे जाते हैं।

व्याख्या—वर्णों के अन्त में विभक्ति लगाई जाने से, उनको पद कहा जाता है। विभक्ति के दो प्रकार हैं—एक तो वह जो संज्ञा के साथ लगती है, दूसरी क्रिया के साथ लगती है। जैसे देवदत्त पकाता है, इसमें 'देवदत्त' संज्ञा और 'पकाता है' क्रिया हुई। इस प्रकार पद के अर्थ का बोध होता है। अब, पदार्थ का निरूपण करेंगे।

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥६१॥

सूत्रार्थ—व्यक्त्याकृति जातिसन्निधा=व्यक्ति, आकृति और जाति के, उपचारात्=उपचार से, तदर्थे=पदार्थ के विषय में, संशयः=शंका होती है।

व्याख्या—पद के अर्थ में व्यक्ति, आकृति और जाति के उपचार से संदेह होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष से ग्रहण किये जाने वाले प्रत्येक पदार्थ में तीन बातें प्रत्यक्ष होती हैं, एक व्यक्ति, दूसरी आकृति और तीसरी जाति। इनमें शंका होती है कि यह तीनों भिन्न-भिन्न हैं या एक ही हैं। जब हम किसी गौ को देखते हैं तो शरीर, रूप और जाति का बोध होता है। इसमें शरीर को गऊ कहें, या रूप को अथवा जाति को या तीनों को ही मिलाकर गऊ कहना चाहिये? इसी बात को अगले सूत्र में और भी स्पष्ट कहते हैं।

या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यऽपचय-वर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचारात्व्यक्तिः ॥६२॥

सूत्रार्थ—या=अथवा, शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्धि-अपचय-वर्णसमासानुबन्धानाम्=शब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास और अनुबन्ध का, व्यक्तौ=व्यक्ति विशेष के, उपचारात्=उपचार होने से, व्यक्तिः=व्यक्ति का ही पदार्थ होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—व्यक्ति ही एक पदार्थ है क्योंकि शब्द समूह, त्याग, परिग्रह, सख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास और अनुबन्ध का व्यवहार उसी में पाया जाता है। अब व्यक्ति को गौ मानकर उसका विवेचन करते हैं—शब्द गौ है, समूह बहुत-सी गऊऐं, त्याग में गौ दान करना, ग्रहण से गऊ का लेना, संख्या अर्थात् पाँच या दस गौऐं, वृद्धि गौ मोटी है, भार में अधिक है, उपचय दुबली-पतली, वर्ण काली है श्वेत तथा और किसी रङ्ग की, समाज गौ बैठती है, तथा अनुबन्ध से गौ का मुख आदि इन सब का व्यवहार आकृति अथवा जाति में सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये पद का अर्थ व्यक्ति ही हो सकता है। आकृति अथवा जाति को अमूर्त्त अथवा अपूर्ण मानना होगा और सभी कियाऐं मूर्त्त द्रव्य में हो सकती हैं। अब इसमें दोष दिखावेंगे—

न तदनवस्थानात् ॥ ६३ ॥

सूत्रार्थ—तदनवस्थानात्=व्यक्तियों की संख्या का नियम न होने से, न=उक्त हेतु युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या—अनवस्था दोष के पाये जाने से व्यक्ति कोई पदार्थ नहीं, इसलिये उपरोक्त हेतु की मान्यता नहीं बनती। क्योंकि आकृति और जाति के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। मनुष्य जाति है, ऐसा कहने में मनुष्यत्व और उसकी आकृति के साथ व्यक्ति का ग्रहण होता है। यदि मनुष्य की आकृति और उसके मनुष्यत्व का अभाव हो तो मनुष्य रह ही नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि जाति ही पदार्थ है, व्यक्ति का पदार्थ है, व्यक्ति पदार्थ है, व्यक्ति पदार्थ नहीं है। अब, अगले सूत्र में शब्दादि का व्यवहार उपचार से होने का कथन करेंगे।

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तु चन्दनगङ्गाशाटकान्न पुरुषेष्वतद्भावेऽपितदुपचारः ॥ ६४ ॥

सूत्रार्थ—सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोग-साधनाधिपत्येभ्यः=सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन और अधिपत्य के द्वारा, ब्राह्मणमञ्चकटरा-जसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेषु=ब्राह्मण, मंच, कट, राज, सक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न और पुरुष यथाक्रम, अत-द्भावे=तद्रूप न होने से, अपि=भी, तदुपचारः=उपचारपूर्वक व्यवहृत होते हैं।

व्याख्या—अन्य शब्द से अन्य पदार्थ का ज्ञान लक्षण से होता है। इसलिए जाति में पदार्थ का मानना अनुपपत्ति नहीं। जैसे सहचार में यष्टि से यष्टि वाला ब्राह्मण, स्थान में मंच से, मंच में स्थित पुरुष, तादर्थ्य में कट से कट को सूचित करने वाला तृण, वृत्त में यम के समान राजा, तोल में सेर-सेर भर सत्तू से उतने तोल के सत्तू, धारण से तुला में रखा हुआ चन्दन, सामीप्य में गङ्गा से गङ्गातीर, योग से काले रङ्ग से रङ्गा वस्त्र, साधन में अन्न से प्राण और अधिपत्य में कुल या गोत्र से उस कुल के प्रमुख पुरुष का ग्रहण होता है। ऐसे ही लक्षण से व्यक्ति में जाति का उपचार होता है। इससे सिद्ध होता है कि गौ कहने से गऊपन का ग्रहण करना उचित है। अगले सूत्र में आकृति का ही पदार्थ होना कथन करेंगे।

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ—सत्व व्यवस्थानसिद्धेः=जीवों में भेद होने का ज्ञान, तदपेक्षत्वात्=आकृति की अपेक्षा से होने के कारण, आकृतिः=आकृति को ही पदार्थ मानना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जब तक आकृति का ज्ञान नहीं है, तब तक यह गौ है, यह भैंस है, यह घोड़ा है, यह सिंह है, इस प्रकार जीवों को अलग-अलग पहिचाना नहीं जा सकता। इसलिये पदार्थ आकृति ही है, जाति या व्यक्ति नहीं। आकृति और व्यक्ति का अन्तर कहते हैं कि आकृति गुण है

और व्यक्ति द्रव्य है। आकृति की समानता ही जाति का लक्षण है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की आकृति होती है, उसी के द्वारा व्यक्ति की जाति जैसे गऊपन, आदि का ज्ञान होता है। इसलिए, आकृति को ही पदार्थ मानना ठीक है। अब जाति को पदार्थ मानने वाले का मत व्यक्त करते हैं।

व्यक्त्याकृति युक्तेप्यऽप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मदगवके-जातिः ॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ—व्यक्त्याकृति युक्ते = व्यक्ति और आकृति युक्त, अपि = हो, मृद्गवके = मिट्टी की गऊ के, प्रोक्षणादीनाम् = प्रोक्षण आदि का, अप्रसंगात् = प्रसंग न होनेसे, जातिः = जाति पदार्थ है।

व्याख्या—मिट्टी की गऊ में आकृति भी है और व्यक्ति भी, परन्तु न तो वह दूध दे सकती है और न चल फिर सकती है। यदि केवल आकृति या व्यक्ति ही पदार्थ होता तो 'गऊ को इधर लाओ' कहने से मिट्टी की गाय को भी लाया जा सकता था और उसी से दूध भी भी काढ़ा जाता। दान करने वाले मिट्टी की गऊ का ही दान कर सकते थे। इससे, यही मानना ठीक है कि आकृति और व्यक्ति में पदार्थ भाव नहीं, बल्कि जाति ही पदार्थ है। यदि यह शंका करें कि आकृति और व्यक्ति का जाति से सम्बन्ध न मानने पर गऊ और बकरी में भेद कैसे करेंगे? तो इसका समाधान यह है कि आकृति और व्यक्ति तो प्रत्येक जीव में होती है, इसलिए आकृति या व्यक्ति के द्वारा जाति का निर्णय नहीं होता। यह तो लक्षण या धर्म से हो सकता है। जिस पदार्थ में जिस जाति के लक्षण प्राप्त हों उसकी वही जाति होगी, अगले सूत्र में आकृति के पदार्थ होने के पक्ष में कहते हैं।

नाऽऽकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६७ ॥

सूत्रार्थ—जात्यभिव्यक्तेः = जाति की अभिव्यक्ति, आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात् = आकृति, व्यक्ति की अपेक्षा से होने से, न = उपरोक्त मान्यता युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—आकृति और व्यक्ति के बिना जाति का ज्ञान होना असम्भव है । क्योंकि, जाति का प्रकट होना आकृति और व्यक्ति पर ही आधारित है । जब हम किसी गऊ को देखते हैं तो उसकी आकृति और शरीर ही दिखाई देता है । जाति तो दिखाई देनी नहीं । सभी लोग किसी गौ को देखकर यही कहते हैं कि यह गऊ है, ऐसा नहीं कहेंगे कि यह गऊपन है । इसीलिए, जाति कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता । अब विचारणीय यह है कि आकृति को पदार्थ माना जाय अथवा व्यक्ति को ? क्योंकि, आकृति के अस्तित्व के लिये व्यक्ति का होना आवश्यक है और व्यक्ति भी आकृति के बिना नहीं रह सकता । यदि व्यक्ति को मानें तो आकृति कहां जायेगी ? क्योंकि आकृति के बिना व्यक्ति की सिद्धि नहीं होती । इसलिये आकृति ही पदार्थ है, ऐसा मानना ठीक है । अगले सूत्र में सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते है ।

व्यक्त्य.कृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥

सूत्रार्थ—व्यक्त्याकृतिजातयः=व्यक्ति, आकृति ओर जाति, तु=तीनों ही, पदार्थः=पदार्थ हैं ।

व्याख्या—इस सूत्र में 'तु' पूर्व मतों का निषेध सूचक है । क्योंकि सूत्रकार का मत है कि व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों ही समान हैं और यह तीनों ही पदार्थ हैं । यह हो सकता है कि कहीं व्यक्ति की प्रधानता हो, कहीं आकृति की और कहीं जाति की हो, परन्तु इन तीनों में कोई भेद नहीं है । अगले सूत्र में व्यक्ति का लक्षण कहेंगे ।

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयोमूर्त्तिः ॥ ६९ ॥

सूत्रार्थ—गुणविशेषाश्रयः=गुण विशेष के आश्रित होने से, मूर्तिः=मूर्ति ही, व्यक्तिः=व्यक्ति है ।

व्याख्या—मूर्ति ही व्यक्ति है अर्थात् जो पदार्थ मूर्त्त है, उसी को व्यक्ति कहते हैं । जो गुरुत्व, कठिनत्व, द्रवत्व आदि गुण विशेष युक्त द्रव्य-संघात मूर्त होता है, वह व्यक्ति है । आत्मा, काल, आकाश आदि

अमूर्त द्रव्य भी गुणाश्रय हैं, परन्तु, इस सूत्र में मूर्ति कहने से मूर्त द्रव्यों का ही ग्रहण हो सकता है। अगले सूत्र में आकृति का लक्षण कहेंगे।

आकृतिर्जातिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ७० ॥

सूत्रार्थ—जातिलिङ्गाख्या = जाति के लक्षण को, आकृतिः=आकृति कहते हैं।

व्याख्या—आकृति उसे कहते हैं, जिससे जाति के लक्षण प्रकट होते हों। जैसे गौ की जाति देखकर गऊपन का ज्ञान होता है और वह गौ की बनावट और स्वरूप अर्थात् चार पाँव, पूँछ के अन्त में बाल, मुख के ऊपर सींग, गले के नीचे लटकती हुई चमड़ी आदि इन लक्षणों से पहिचानी जाती है। इसी प्रकार सब जीवों की जाति का ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि जाति के जो लक्षण हैं, वही आकृति है। यदि जाति के लक्षण आकृति न होते तो शेर को भी गऊ समझ लेते अथवा मनुष्य को भी गऊ कह दिया जाता। अब जाति का लक्षण कहते हैं।

समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

सूत्रार्थ—समान प्रसवात्मिका=समान उत्पत्ति वाले बहुत से जीवों की एक रूपता को, जातिः=जाति कहते हैं।

व्याख्या—जिन पदार्थों या जीवों में समता है और वह एक ही प्रकार से उत्पन्न हुए हैं, उस समता को जाति कहते हैं। जैसे गऊ जैसी आकृति और उत्पत्ति वाले सभी पशु गौ जाति के कहे जाते हैं और मनुष्य की आकृति वाले सभी जीव मनुष्य जाति के माने जाते हैं। जिसमें आकृति और बनावट एक सी हो, वही अपने समान जीव या पदार्थ में में मिलकर उसी जाति का कहा जायेगा। जातियाँ भी दो प्रकार की मानी गयी हैं—सामान्य और विशेष। इनमें मनुष्य जाति सामान्य है और देश भेद से अथवा काले-गोरे के भेद से जाति की विशेषता हो जाती है।

॥ द्वितीयाध्यायः द्वितीयमाह्निक समाप्तः ॥

तृतीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् ।।१।।

सूत्रार्थ—दर्शनस्पर्शनाभ्याम्=दर्शन और स्पर्श से, एकार्थ ग्रहणात्=एक पदार्थ का ग्रहण करने से, आत्मा का इन्द्रियों से पृथक् होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—देखने और स्पर्श करने से एक पदार्थ का ग्रहण होता है, इसलिये आत्मा और इन्द्रियों में भेद होना प्रत्यक्ष है। जिस वस्तु को नेत्रों से देखते हैं, उसी को हाथ से उठाते हैं अथवा स्पर्श करते हैं अथवा जिसे स्पर्श किया, उसे नेत्रों से देखते हैं, जिह्वा से स्वाद लेते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के कार्य का संचालन करने वाला आत्मा अलग ही है। यदि आत्मा अलग न होता तो जिसे देखते, उसे ही, उसी समय में स्पर्श नहीं कर पाते। क्योंकि अन्य के देखे हुए को अन्य स्पर्श नहीं कर सकता था। इससे सिद्ध होता है कि जो आत्मा नेत्र द्वारा देखता, त्वचा से स्पर्श करता और जिह्वा से स्वाद लेता है, वह इन्द्रियों से अलग है।

अगले सूत्र में इस पर शङ्का करते हैं—

न विषयव्यवस्थानात् ।।२।।

सूत्रार्थ—विषय व्यवस्थानात्=इन्द्रियों के विषय से ही, न=उक्त कथन का ठीक होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—इन्द्रिय संघात के अतिरिक्त आत्मा कोई भिन्न पदार्थ है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। नेत्र के होने से रूप का ज्ञान होता है, नासिका

के द्वारा गंध का, जिह्वा से द्वारा रस का। अर्थात् जो इन्द्रिय जिस कार्य के लिये नियत है, वही उस कार्य को कर सकती है। नासिका के द्वारा देखने का कार्य नहीं हो सकता और न नेत्र के द्वारा गंध ज्ञान हो सकता है। यदि आत्मा का पृथक् अस्तित्व होता और उसके द्वारा इन्द्रियों का संचालन होता तो वह नेत्र के द्वारा सूँघने का कार्य भी ले सकता था। परन्तु, ऐसा होता कभी नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का अपने नियत विषय से सम्बन्ध होने से ही विषय का ज्ञान है और इस प्रकार किसी चेतन आत्मा के पृथक् अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अगले सूत्र में उक्त शंका का समाधान करते हैं।

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥३॥

सूत्रार्थ—तद्व्यवस्थानात् = विषयों के व्यवस्थान से, एव = ही, आत्म सद्भावात् = आत्मा की सिद्धि होने पर, अप्रतिषेधः = इसका निषेध करना युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या—विषयों के व्यवस्थित होने से ही आत्मा की सिद्धि हो जाती है, इसलिये, उसका निषेध नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक इन्द्रिय सब विषयों के ज्ञान में स्वतन्त्र होती या सबके एक साथ मिलने से ही सब का ज्ञान हो जाता तब तो इन्द्रिय से भिन्न चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। परन्तु, इसके विपरीत, प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने नियत विषय का ही ज्ञान करती है और वह दूसरे विषय के ज्ञान में समर्थ नहीं होती, इसी से चेतन आत्मा कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा सिद्ध होता है। क्योंकि, इन्द्रियाँ तो आदेश प्राप्त नौकर के समान कार्य करती हैं। जो, इनसे कार्य लेता है, वह तो चेतन आत्मा ही है। यह बात इसी से जानी जाती है कि 'यह मेरी आँख है' 'यह मेरा हाथ है' ऐसा सब कहते हैं, कोई यह नहीं कहता कि 'मैं आँख हूँ' 'मैं हाथ हूँ'। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि आत्मा ही इन्द्रियों का स्वामी है, वही शरीर में रह कर

उसकी प्रत्येक क्रिया का संचालन करता है। यदि इन्द्रिय स्वयं ही क्रिया कर लेतीं तो दश वर्ष पहले देखे या सुने विषयों को आज भी याद नहीं रख पाते।

अगले सूत्र में देह को ही आत्मा मानने वालों के मत का समाधान करते हैं—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥४॥

सूत्रार्थ—शरीरदाहे=शरीर के जलाने से, पातक=पाप का, अभावात्=अभाव होने से आत्मा का पृथकत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—मृत देह को जलाने का जो कार्य किया जाता है, उसमें किसी प्रकार का पाप नहीं लगता। यदि आत्मा शरीर से भिन्न न होता तो मरना भी सिद्ध नहीं होता और देह को जलाने में भी पाप होता। क्योंकि, जीवित को जलाना तो घोर दूष्कर्म और महान् पातक है। यदि शरीर को ही आत्मा मानते हो तो उसके नाश होने पर पाप-पुण्य का भी नाश हो जाना चाहिये और पाप-पुण्य नष्ट हो गया तो फिर किसी को दुःख और किसी सुख भी नहीं होगा। क्योंकि, पाप-पुण्य के बिना दुःख-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसमें दोष-प्रसंग उपस्थित होगा। क्योकि जिस शरीर ने पाप किये वह नष्ट हो गया तो उसे पाप का फल कैसे मिलेगा? और जिस शरीर ने अभी पाप किया ही नहीं उसको अपराध किये बिना ही दुःख की प्राप्ति क्यों होनी चाहिये? परन्तु, बालकों को जन्म लेने के बाद दुःख भोगते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर अलग-अलग वस्तु हैं, इनको एक नहीं कह सकते। अब, इस पर आक्षेप करेंगे।

तदभावः सात्मकप्रदाहेपि तन्नित्यत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—तन्नित्यत्वात्=आत्मा के नित्य होने से, सात्मक

प्रदाहे=जीवित एवं आत्मा सहित शरीर को जलाने पर, अपि=भी, तदभाव:=किसी प्रकार का पाप नहीं होता।

व्याख्या—आत्मा नित्य है तो उसे जीवित जला देने पर कोई पाप नहीं हो सकता। क्योंकि, नित्य वस्तु तो नष्ट होती नहीं, जलेगा तो शरीर ही, फिर उससे आत्मा को क्या हानि हुई? यदि आत्मा को कोई हानि नहीं हुई तो फिर पाप कैसा? यदि शरीर को आत्मा मानते हो और वह जब नष्ट हो जाता है, तब भी उसके जलाने में कोई पाप नहीं हो सकता। देह को आत्मा मानें तो हिंसा का कोई फल नहीं होता और आत्मा को देह से अलग मानें तो भी हिंसा का न होना सिद्ध होता है। इस प्रकार, दोनों दशाओं में ही पाप नहीं हो सकता। अब इस पर सूत्र-कार अपना मत व्यक्त करते हैं—

न कार्याश्रय कर्त्तृवधात् ॥६॥

सूत्रार्थ—कार्याश्रयकर्त्तृवधात्=शरीर और इन्द्रियों के उपघात को हिंसा कहने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—आत्मा का नाश हिंसा नहीं, क्योंकि, आत्मा नित्य है, वह जिस शरीर और इन्द्रियों के साथ रहता है, उस शरीर तथा इन्द्रियों का उपघात ही हिंसा है। उस शरीर को जलाने वाला पापी कहा जाता है। पर आत्मा के निकल जाने पर जलाने से उसका दोष नहीं होता। क्योंकि, आत्मा शरीर से अलग है, वह उसमें निवास करता हुआ सुख-दु:ख का अनुभव करता रहता है। शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होता। यदि आत्मा के सहित अर्थात जीवित शरीर को जलाया जाय, तो हिंसा होगी, परन्तु, आत्मा के निकल जाने पर शरीर का जलाया जाना, हिंसा नहीं कहा जा सकता। यदि कहें कि आत्मा नित्य है, उसके होने पर शरीर को जलाने में हिंसा क्यों माननी चाहिये? तो इसका समाधान यह है कि जब तक आत्मा शरीर में रहता है, तब तक, वह शरीर के द्वारा सुख-दु:ख का अनुभव करता है। शरीर को कष्ट होता है

तो आत्मा उसकी पीड़ा का अनुभव करता है और शरीर को सुख मिलता है तो आत्मा को भी उसकी अनुभूति होती है। इस प्रकार, आत्मा सहित शरीर के जलाये जाने से आत्मा को पीड़ा की अनुभूति होती है, और किसी के आत्मा को दुःख देना ही पाप है। आत्मा जिस शरीर में रहता है, उस शरीर को अहंकार के कारण अपना समझता है, इसलिये उस शरीर से आत्मा को अनुराग हो जाता है और उसे छोड़ने में वह कष्ट का अनुभव करता है। इसलिये भी आत्मा को शरीर से अलग करने वाला कार्य हिंसा और पाप है। इसके ही पक्ष में एक युक्ति अगले सूत्र में और देते हैं—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥७॥

सूत्रार्थ—सव्यदृष्टस्य=एक नेत्र से देखे हुए पदार्थ का, इतरेण=दूसरे नेत्र ने, प्रत्यभिज्ञानात्=प्रत्यभिज्ञान होने से आत्मा का देह से भिन्न होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिसे बाँये नेत्र से देखा हो, उसका दाँये नेत्र से प्रत्यभिज्ञान होता है इससे भी आत्मा का शरीर से अलग होना सिद्ध होता है। पूर्वापर ज्ञान के योग को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे, यह वही ग्रन्थ है जिसे मैंने आगरा में देखा था। जब किसी वस्तु को पहिले बाँये नेत्र से देखा हो, अब उसे दाँये नेत्र से देखकर यह जान लें कि यही वस्तु है जिसे पहिले मैंने बाँये नेत्र से देखा था इसी को प्रत्यभिज्ञान समझिये। यदि आत्मा शरीर से अलग न हो तो प्रत्यिभिज्ञान कभी नहीं हो सकता। क्योंकि, एक के देखने की दूसरे को याद नहीं हो सकती है।

अगले सूत्र में इसका उत्तर देते हैं—

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥८॥

सूत्रार्थ- नासास्थि व्यवहिते=नासिका की हड्डी से किये, एकस्मिन्=एक ही नेत्र-इन्द्रिय में, द्वित्वाभिमानात्=दो का अभिमान होने से, न=उपरोक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—नेत्र-इन्द्रिय एक ही है, परन्तु नासिका की हड्डी बीच में आ जाने से उसके दो होने का भ्रम हो गया है। जैसे किसी नदी पर पुल बाँधने से दो नदियाँ नहीं हो सकतीं, वैसे ही चक्षुरेन्द्रिय भी एक ही है। इसलिये ऊपर के सूत्र में एक नेत्र से देखने को प्रत्यभिज्ञान कहा है, वह युक्तिसंगत नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर के पृथकत्व में यह प्रमाण ठीक नहीं है।

अब, इस पर आक्षेप करते है—

एक विनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥९॥

सूत्रार्थ—एक विनाशे=एक के नष्ट होने पर, द्वितीयाविनाशात्=दूसरे का नाश न होने पर, एकत्वम्=नेत्रों का एक होना, न=किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यदि नेत्र-इन्द्रिय एक होती, तो सव्य या अपसव्य अर्थात् दाँये या बाँये, किसी नेत्र के नष्ट होने पर दोनों को ही नष्ट कर हुआ मान लिया जाता और एक के नष्ट होने पर दूसरे से भी दिखाई नहीं देता। परन्तु, ऐसा होता नहीं। एक नेत्र के मारे जाने पर भी दूसरे नेत्र से दिखाई देता है। इसलिये नेत्रों का एकत्व सिद्ध नहीं होता।

अब, वादी पुनः आक्षेप करता है—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥१०॥

सूत्रार्थ—अवयवनाशे=शरीर के किसी एक अङ्ग के नष्ट होने पर, अपि=भी, अवयव्युपलब्धेः=अवयवी की उपलब्धि होती है, इसलिये, अहेतुः=उक्त हेतु मान्य नहीं।

व्याख्या—नेत्रेन्द्रिय को दो बताने में एक के फूट जाने पर दूसरे से दिखाई देने का जो हेतु दिया गया, वह उपयुक्त नहीं है। क्योंकि, शरीर के किसी एक भाग के नष्ट होने पर पूरे शरीर का नाश नहीं हो जाता। एक अंग नहीं रहता है, तो भी दूसरे अंग कार्य करते रहते हैं।

इसलिए चक्षुरेन्द्रिय एक ही है उसके एक भाग के नष्ट होने पर दूसरे से दिखाई देने के कारण दो नहीं कह सकते। क्योंकि, एक अवयव के नष्ट होने से अवयवी का ही नष्ट हो जाना सिद्ध नहीं होता।

उक्त विरोध का अगले सूत्र में समाधान करते हैं—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥११॥

सूत्रार्थ—दृष्टान्त विरोधात् = दृष्टान्त का विरोध होने से, अप्रतिषेधः = उक्त विरोध मान्य नहीं होता।

व्याख्या—उक्त दृष्टान्त मान्य नहीं है। क्योंकि, वृक्ष को अवयवी मानें तो शाखायें उनके अवयव होंगे। परन्तु, एक शाखा दूसरी शाखा का अवयव नहीं हो सकती। इस प्रकार, एक नेत्र दूसरे नेत्र का अवयव नहीं होगा, वह तो किसी अवयवी अर्थात् शरीर का ही अवयव हो सकता है। यदि नेत्र-इन्द्रिय एक ही होती तो एक नेत्र में लाली होने से दूसरे नेत्र में भी लाली होजाती। परन्तु, ऐसा न होने से नेत्रों का दो होना ही सिद्ध होता है। यदि नासिका की हड्डी को अलग करके देखें तो भी नेत्रों के दो गोलक अलग-अलग दिखाई देंगे। इससे भी नेत्रों का दो होना ही सिद्ध है। जब, नेत्रों का दो होना सिद्ध हो गया तो एक के द्वारा देखी गई वस्तु का दूसरे से प्रत्यभिज्ञान होना भी सिद्ध होगया और प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि से शरीर और आत्मा का पृथकत्व भी सिद्ध होजाता है।

इसी की पुष्टि में अन्य हेतु देते हैं—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियान्तर विकारात् = एक इन्द्रिय के विषय को देखकर दूसरी इन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो जाने से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर में पृथकत्व है।

व्याख्या—किसी एक इन्द्रिय के अपने विषय को ग्रहण करने पर

अन्य इन्द्रियों में भी विकार उत्पन्न होजाता है। जैसे गुलाब के पुष्प को नेत्र से देखने पर नासिका उसे सूँघने की इच्छा करती है, और किसी बढ़िया मिठाई को देखने पर मुख में पानी भर आता है और जिह्वा उसका आस्वादन करने के लिये लालायित हो उठती है। यदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में स्वतन्त्र मानलें तो एक इन्द्रिय के कार्य से दूसरी इन्द्रिय में विकार नहीं होना चाहिये। इससे यही सिद्ध होता है कि इंद्रियाँ आत्मा के आधीन हैं और उसी की प्रेरणा से अपने विषय को ग्रहण करती हैं।

इसकी असिद्धि में वादी पुनः आक्षेप करता है—

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ – स्मृतेः स्मर्त्तव्य विषयत्वात्=पूर्व अनुभव किये पदार्थ के स्मरण का विषय होने से, न=उक्त कथन मान्य नहीं है।

व्याख्या—बीती हुई बात को याद करना स्मृति का विषय है। क्योंकि, याद रखने योग्य सभी विषय स्मृति के अन्तर्गत ही हैं। जिस इन्द्रिय के द्वारा किसी विषय का ज्ञान हुआ है, उस विषय का स्मरण उसी इन्द्रिय के द्वारा हो, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जिस वस्तु को पहिले देख चुके हैं, उसी की याद आ सकती है। न देखे हुए विषय की याद ही कैसे आयेगी ? और प्रत्यक्ष विषय को याद करना स्मृति का कार्य है, आत्मा का नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर से भिन्न किसी आत्मा का अस्तित्व नहीं होता।

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ —तदात्मगुण सद्भावात्=स्मृति के आत्मा का गुण होने से, अप्रतिषेधः=निषेध की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—स्मृति किसी इन्द्रिय का गुण नहीं, आत्मा का गुण है। यदि इंद्रिय का गुण होता तो एक के द्वारा अनुभव किया हुआ विषय दूसरी इंद्रिय के द्वारा अनुभव न किया जाता। यदि स्मृति को इंद्रिय का विषय मानने लगें तो मरे हुए शरीर में स्मृति उत्पन्न क्यों नहीं होती? उसमे केवल आत्मा ही तो नहीं होता, इंद्रिय और स्मर्त्तव्य विषय तो मौजूद रहते ही हैं। इसी से सिद्ध होता है कि स्मृति इंद्रियों का विषय नहीं है, आत्मा का ही विषय है। क्योंकि, आत्मा के बिना, स्मृति हो ही नहीं सकती।

अगले सूत्र में इसका अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, स्मृति विषयस्य=स्मृति के विषय में अपरिसंख्यानात्=अनेक विषयों का ज्ञान होने से भी उपरोक्त मान्यता ठीक समझनी चाहिये।

व्याख्या—स्मृति का विषय बड़ा गहन है। "मैंने इस अर्थ को जाना, मुझसे यह अर्थ जाना गया, मुझे इस अर्थ का ज्ञान हुआ, मैं इस अर्थ का जानने वाला हूँ'—यह चार प्रकार का परोक्ष ज्ञान है। स्मृति का मूल इसी ज्ञान को समझना चाहिए। चारों प्रकार की स्मृति में सभी स्थानों पर ज्ञान का सम्बन्ध ज्ञाता और जानने योग्य दोनों से होगा। बिना ज्ञाता के यह ज्ञान नहीं रह सकता तथा इसका सम्बन्ध अनेक ज्ञाताओं से भी नहीं है। "मैंने इस विषय को जाना, मैं इस विषय को जानता हूँ अथवा मैं इस विषय को जानूँगा"—यह त्रिकालज्ञ ज्ञान है। इसका प्रतिसन्धान यदि ज्ञाता न हो तो कैसे होगा? जिसको मैंने पहिले देखा था, अब उसी को देख रहा हूँ। इसमें देखना, ज्ञान और प्रत्यय तीनों मिले हुए हैं। इस प्रकार एक ही अर्थ तीनों प्रकार के ज्ञानों से युक्त होकर अकर्तृक अथवा अनेक कर्तृक नहीं होता, बल्कि एक कर्तृक है।

क्योंकि, एक ही सब विषयों का जानने वाला अपने सभी ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। "मैंने इसे जाना, मैं इसे जानता हूँ, मैं इसे जानूँगा"—आदि त्रिकालज्ञ ज्ञान को संस्कारों का फैलाव मात्र ही मानें तो पहिले तो संस्कार उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं और दूसरे, कोई भी ऐसा संस्कार नहीं है जो त्रिकालज्ञ ज्ञान को अपने में धारण कर सके। ज्ञाता न हो तो 'मैं और मेरा' का ज्ञान और स्मृति का परिसंधान उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि विषयों के आत्मा के आश्रित होने से ज्ञान का कारण इन्द्रिय जन्य स्मृति नहीं हो सकती। इस पर पूर्वपक्ष पुनः आक्षेप करता है।

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—आत्मप्रतिपत्ति हेतूनाम्=आत्मा के साधक हेतु के, मनसि=मन में, सम्भवात्=सम्भव होने से, न=किसी अन्य आत्मा का होना सिद्ध नहीं हो पाता।

व्याख्या—आत्मा की सिद्धि करने वाले हेतु मन में हैं, इससे किसी अन्य को आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यह है कि आत्मा को सिद्ध करने वाले जो लक्षण हैं, वे लक्षण मन में मिलते हैं तो फिर आत्मा को अलग क्यों माना जाय ? जैसे देखना, स्पर्श करना आदि ज्ञान आत्मा के पक्ष में कहा है, वह ज्ञान मन में भी होता है, क्योंकि मन सभी विषयों का अनुभव करने वाला है। इसलिये आत्मा को अलग नहीं मानना चाहिये। अगले सूत्र में इस आक्षेप का समाधान करेंगे—

ज्ञातुर्ज्ञान साधनोपपत्तेः संज्ञाभेद मात्रम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—ज्ञान साधनोपपत्तेः=ज्ञान के साधन की उपपत्ति होने से, ज्ञातुः=ज्ञाता के, संज्ञाभेदमात्रम्=केवल नाम का भेद ही है।

व्याख्या—ज्ञाता के ज्ञान-साधन की उपलब्धि होने से नाम मात्र का भेद है। क्योंकि प्रत्येक कारण कर्त्ता की सहायता के लिये होता है, यदि कर्त्ता न हो तो कार्य और कारण भी मिलकर किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के जितने साधन हैं, वे सभी ज्ञाता की सहायता के लिये हैं, जैसे नासिका से सूँघना, नेत्र से देखना, त्वचा से स्पर्श करना, मन से मनन करना आदि। सभी इन्द्रियाँ साधन मात्र हैं और नेत्र आदि की तरह मन भी ज्ञान का एक साधन है। यदि मन को ही चेतन मान लें और करण न मानें तो भी मन और आत्मा में केवल संज्ञा का भेद होना ही कहा जायगा। क्योंकि, जिसे मन कहा है, और उसके लक्षण आत्मा जैसे कहे हैं, इसलिये मन को ही आत्मा मान लें, तो आत्मा के शरीर आदि संघात से पृथक् होने के सिद्धान्त में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

अगले सूत्र में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नियमश्च निरनुमानः ।।१८।।

सूत्रार्थ—च=तथा, नियमः=उस नियम के पक्ष में, निर-नुमानः=कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

व्याख्या—यह कहना कि रूप आदि को ग्रहण करने के साधन नेत्र आदि इन्द्रिय तो हैं, परन्तु, सुख-दुःख को अनुभव करने वाले मन या अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। यह किसी कारण के बिना ही उपलब्ध हो जाते हैं, ऐसा नियम बताना किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं होता। यह तो सभी मानते हैं कि रूप आदि से सुख आदि विषय भिन्न हैं और उनका ज्ञान होने के लिये कोई कारण होना चाहिये। जैसे गंधाज्ञान नासिका से ही हो सकता अथवा रस का ज्ञान जिह्वा से ही हो सकेगा, नेत्र या नासिका से कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार नेत्र आदि पाँचों इंद्रियाँ सुख-दुःख का ज्ञान करने में समर्थ नहीं, तब उसे अन्तःकरण या मन की आवश्यकता होगी ही। सभी इंद्रियाँ मन से सम्बंध रखती

हैं, इसीलिये सब विषयों का ज्ञान एक साथ नहीं होता। क्योंकि, मन का जब, जिस इंद्रिय से संयोग होता है, तब उस इंद्रिय के विषय का ही ज्ञान होता है। इसलिये आत्मा को सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिये हैं, वे मन पर घटित नहीं होते।

अगले सूत्र में आत्मा का नित्य होना सिद्ध करते हैं—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः ॥१९॥

सूत्रार्थ—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्=पूर्व जन्म के अभ्यास से, पदार्थ की स्मृति के अनुबन्धन से, जातस्य=उत्पन्न हुए बालक में, हर्ष भयशोक सम्प्रतिपत्तो=हर्ष, भय और शोक के पाये जाने से आत्मा का नित्य होना हो सिद्ध होता है।

व्याख्या—तत्काल उत्पन्न हुए बालक में भी हर्ष, भय, शोक का होना मिलता है, उसका कारण पूर्व जन्म का संस्कार ही होता है। यदि उसे पूर्व जन्म का हर्ष भय शोक आदि का अनुभव न होता तो वह हर्ष शोक आदि से प्रभावित न हो पाता। क्योंकि, किसी वस्तु को पहिले देखे बिना उसकी स्मृति नहीं हो सकती। जब, पहिले उसे हर्ष, शोक भय आदि का सामना करना पड़ा होगा, तभी उस पर इनका प्रभाव पड़ा। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है। यदि कहें कि आत्मा शरीर के साथ उत्पन्न हुआ है तो ऐसा नहीं कह सकते। यदि शरीर के साथ उत्पन्न हुआ होता तो हर्ष, भय, शोक की अनुभूति उसे नहीं हो सकती थी। यदि कहो कि शरीर की उत्पत्ति से पहिले हुआ तो उसका उपादान कारण न होने से, इस बात की सिद्धि नहीं होती। इस-लिये आत्मा अनादि है और जो पदार्थ अनादि है, वह अनित्य नहीं हो सकता।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥२०॥

सूत्रार्थ—पद्मादिषु=कमल आदि में, प्रबोध सम्मीलन विकारवत्=नेत्र खुलने, मिचने के समान, तद्विकारः=बालक को हर्ष, भय और शोक आदि विकार होते हैं।

व्याख्या—जैसे कमल आदि में खुलना और बन्द होना आदि विकार स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं, वैसे ही हाल के उत्पन्न हुए बालक में हर्ष, भय, शोक आदि विकार स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न होते हैं। इस स्थिति को पूर्व जन्म के संस्कार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आत्मा को भय, शोक आदि के कारण ही नित्य मान लें तो कमल आदि को भी स्वयं खुलने या बन्द होने के कारण नित्य क्यों नहीं मान लेते ? इससे सिद्ध हुआ कि हर्ष, भय आदि स्वाभाविक विकार होने से आत्मा का नित्य होना नहीं बनता।

अगले सूत्र में इस पक्ष का समाधान करेंगे—

नोष्ण शीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्म कवि-कारणाम् ।२१।

सूत्रार्थ—पंचात्मक विकराणाम्=पंच भौतिक कमल आदि के विकार, उष्णशीतवर्षाकाल निमित्तात्वात्=गर्मी, शीत, वर्षा आदि के निमित्त से है, यह कहना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—कमल के पुष्प की आत्मा से समता करना ठीक नहीं है। क्योंकि, कमल के पुष्प आदि पंच भूतों के विकार हैं और यह विकार गर्मी, ठंड और वर्षा आदि ऋतुओं के कारण होते हैं। परन्तु, आत्मा पंच भौतिक नहीं है, इसलिये ऋतुओं का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता। कमल के पुष्प में भी खुलना, बन्द होना आदि विकार सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के प्रभाव से ही होता है और आत्मा को हर्ष, शोक,

भय आदि का होना पूर्व जन्म के अभ्यास का संस्कार ही हैं। जैसे कमल-पुष्प का खुलना मुँदना आदि गर्मी, सर्दी आदि के बिना नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा में हर्ष, शोकादि पूर्व संस्कार के बिना संभव नहीं हैं। यदि ऐसा नहीं है तो हाल के उत्पन्न बालकों को हर्ष, भय, शोक आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त हर्ष, भय, शोक आदि के ग्रहण करने वाली कोई इन्द्रिय भी माननी होगी। वह इन्द्रिय मन ही हो सकता है, परन्तु, मन में एक साथ अनेक ज्ञान प्रकट नहीं हो सकते। जिस इन्द्रिय के साथ, जिस विषय का संयोग होता है, उसी विषय को वह इन्द्रिय ग्रहण कर सकती है और वह भी तब, जबकि मन का उस इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। बिना संयोग के ज्ञान हो ही नहीं सकता। यह बात सूत्र १६ में भी समझा चुके हैं। इन सब से सिद्ध होता में कि आत्मा नित्य है।

अगले सूत्र में इसका अन्य हेतु भी देते हैं—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—प्रेत्य=पुनर्जन्म, आहाराभ्यास=आहार के, कृतात्=अभ्यास से, स्तन्याभिलाषात्=स्तनपान की इच्छा का होना भी आत्मा के नित्यत्व को सिद्ध करता है।

व्याख्या—मरनेके बाद जब आत्मा दूसरा देह धारण करता है, तब वह किसी की प्रेरणा या शिक्षा के बिना ही स्तन से दूध पीने लगता है। इसका कारण पूर्वजन्म का, भोजन का अभ्यास ही है। यदि पूर्व जन्म का अभ्यास न होता तो दुग्ध-पान में उसकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती थी। इससे यही मानना ठीक है कि आत्मा ने पहिले भी शरीर धारण किया था। उसे वहाँ भोजन का अभ्यास था और जब वह उस देह में आया, तब भूख से पीड़ित होने के कारण और पूर्व जन्म के भोजन ग्रहण करने वाले अभ्यास को स्मरण कर स्तन-पान करने लगा। इससे, सिद्ध होता है कि देह के नष्ट होने से आत्मा का नाश नहीं होता।

अगले सूत्र में इस पर पुनः शंका करते हैं—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ।।२३।।

सूत्रार्थ—अयसः अयस्कान्ताभिगमनवत्=लोहे के चुम्बक की ओर खिचने के समान, तदुपसर्पणम्=बालक द्वारा स्तन-पान करने का अभ्यास स्वाभाविक ही है।

व्याख्या—जैसे लोहा चुम्बक की ओर स्वाभाविक रूप से खिचता है, वैसे ही बालक पूर्व जन्म के आहार-अभ्यास से नहीं, स्वाभाविक रूप से ही दुग्ध-पान में प्रवृत्त होता है। यदि, स्वाभाविक न होता तो स्तन पीने की प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती थी। इसी से सिद्ध है कि पूर्व अभ्यास से स्तन-पान की प्रवृत्ति होने का हेतु अयुक्त है।

अब इसका समाधान करेंगे—

नान्यत्र प्रवृत्यभावात् ।।२४।।

सूत्रार्थ—अन्यत्र=अन्य विषयों में, प्रवृत्त्यभावात्=प्रवृत्ति न होने से, न=उपरोक्त मान्यता नहीं बनती।

व्याख्या—बालक की प्रवृत्ति केवल दुग्ध-पान में ही है, अन्य किसी वस्तु में नहीं है। अर्थात् बालक दूध पीने की इच्छा करता है और किसी वस्तु की नहीं। इसीलिये दूध पीने को स्वाभाविक वृत्ति नहीं कह सकते। ऊपर लोहे और चुम्बक का जो दृष्टान्त दिया है, वह भी अयुक्त है। क्योंकि, लोहा चुम्बक की ओर निमित्त से खिचता है। यदि निमित्त न होता तो मिट्टी या पत्थर आदि भी चुम्बक के पास खिचे चले जाते अथवा लोहा ही मिट्टी-पत्थर आदि के पास खिच आता। इसमें विचारणीय यह है कि चुम्बक लोहे को ही अपने पास क्यों खींचता है अन्य किसी धातु को क्यों नहीं खींचता? दूसरे, लोहा भी चुम्बक के पास ही क्यों जाता है, दूसरे के पास क्यों नहीं जाता? इससे सिद्ध होता है कि चुम्बक के पास लोहे का खिचना सकारण होता है। इसी प्रकार बालक

की स्तन-पान में प्रवृत्ति भी सकारण ही है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पहिले किये भोजन के अभ्यास की स्मृति से भोजन में प्रवृत्ति होती है और इसी से सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है।

इसी की पुष्टि में अन्य हेतु उपस्थित करते हैं—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—वीतराग=विरक्त पुरुष का, जन्म-अदर्शनात्=जन्म होना दिखाई न पड़ने से भी यही मान्यता होती है।

व्याख्या—आत्मा के नित्य होने में एक प्रमाण यह भी है कि विषयों में रत प्राणी ही जन्म लेता है। जिसने विषयों का त्याग कर दिया अर्थात् वीतराग होगया, उसका जन्म ही नहीं होता। राग अर्थात् विषय ही जन्म-मरण का कारण है और राग की अनुभूति तभी हो सकती है, जब कि आत्मा ने किसी शरीर में रहकर उसका अनुभव प्राप्त कर लिया हो। पूर्व जन्म में अनुभव किये विषय को स्मरण करने से राग होता है, और जन्म-मरण इसी से होता है। जो, ज्ञानी पुरुष तत्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास करते हैं, तब उनकी वासनाएँ नष्ट होने लगती हैं। जब वासनाओं का समूल नाश होजाता है, तब कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव होजाता है, अर्थात् रागादि नहीं रहते तो जन्म-मरण का बन्धन भी नहीं रहता। जब जन्म-मरण समाप्त हुआ तो मुक्तावस्था होगई। इस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था सिद्ध होने से उसका नित्यत्व भी सिद्ध होता है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते है—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—सगुण द्रव्योत्पत्तिवत्=गुण वाले द्रव्य के उत्पन्न होने के समान, तदुत्पत्तिः=राग वाले आत्मा के उत्पन्न होने से आत्मा का अनादित्व और नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—जैसे सगुण द्रव्य उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मा की उत्पत्ति होना क्यों न मान लें ? जैसे उत्पत्ति धर्म वाले घड़ा आदि द्रव्यों के रूप आदि गुण, द्रव्य के उत्पन्न होने के साथ, स्वयं ही उत्पन्न होजाते हैं, वैसे ही उत्पन्न होने वाले आत्मा में भी राग स्वयं उत्पन्न होगा। इस प्रकार राग का आत्मा के साथ उत्पन्न होना सिद्ध होता है, तो पूर्वजन्म की स्मृति से राग का होना मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त दृष्टान्त से पूर्वजन्म की सिद्धि नहीं होती, इसलिये आत्मा का नित्य होना भी सिद्ध नहीं होता।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—रागादीनाम्=राग आदि के, संकल्पनिमित्तत्वात्=सङ्कल्प निमित्त होने से, न=उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—राग आदि सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति सगुण द्रव्य के समान नहीं हो सकती। घट आदि कार्यों में रूप आदि गुणों का रहना समवाय सम्बन्ध से है। परन्तु, आत्मा में राग की प्रवृत्ति सदा नहीं रहती, पूर्व अनुभव के संस्कार या स्मृति से मन में जब किसी संकल्प की उत्पत्ति होती है, तभी राग आदि होते हैं। यदि आत्मा की उत्पत्ति के कारण, राग की उत्पत्ति होती तो संकल्प से भिन्न, रागादि का कोई अन्य कारण होता। परन्तु, संकल्प के अतिरिक्त, अन्य कोई कारण राग आदि के उत्पन्न होने का नहीं है। इसलिए रागादि की उत्पत्ति सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान नहीं मान सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा का पूर्व शरीर से संयोग होता है और आत्मा नित्य है। इस प्रकार, आत्मा की परीक्षा समाप्त हुई, अब शरीर की परीक्षा प्रारम्भ करेंगे।

अगले सूत्र में शरीर के मुख्य उपादान के सम्बन्ध में कहेंगे—

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—गुणान्तरोपलब्धेः=गुणान्तर की उपलब्धि से, पार्थिवम्=मनुष्य देह का पार्थिव होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—सभी का कहना है कि शरीर भौतिक है, परन्तु पाँचों भूतों में से किस भूत से बना है, इसका समाधान करते हैं कि, वैसे तो देह पञ्चभूतात्मक है, परन्तु, पृथिवी तत्व इसमें विशेष रूप से है। इसलिये पृथिवी को विशेष उपादान मानना चाहिये। जल, तेज, वायु और आकाश इसके निमित्त कारण हैं, वे इसके उपादान कारण नहीं हो सकते। क्योंकि जल आदि के गुण द्रवत्व आदि देह में बहुत कम पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष रूप से तो पृथिवी के गुण गन्ध और काठिन्य आदि ही मिलते हैं। इसलिये शरीर को पार्थिव मानना ही ठीक है।

अगले सूत्र में अन्य मत उपस्थित करते हैं—

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—तद्गुणोपलब्धेः=गन्ध, स्नेह और उष्ण इन गुणों की उपलब्धि से, शरीरों का, पार्थिवाप्यतैजसम्=पार्थिव, आप्य और तैजस होना प्रत्यक्ष सिद्ध होता है।

व्याख्या—शरीर में पृथिवी का गुण गन्ध पाया जाता है, इसलिये पार्थिव, जल का गुण स्नेह अर्थात् चिकनाहट होने से आप्य और स्पर्श करने से गर्मी मालुम होने से तैजस्। इस प्रकार त्रिभौतिक अर्थात् पृथिवी, जल, और तेज के योग से बना सिद्ध होता है। अब, इसमें भी एक संशोधित मत कहेंगे —

निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेः=गन्ध आदि तीनों गुण

और श्वांस-प्रश्वास रूप प्राणवायु की उपलब्धि होने से यह देह, चातुर्भौतिकम्=चार भूतों से बना है ।

व्याख्या—शरीर में गन्ध, स्नेह, उष्णता यह तीन गुण तो मिलते ही हैं, इसके साथ ही श्वांस-उच्छ्वास आदि की उपलब्धि भी होती है । अर्थात् शरीरों को श्वास लेते और श्वांस छोड़ते भी प्रत्यक्ष देखा जाता है । इससे सिद्ध होता है कि शरीर त्रयभौतिक नहीं, किन्तु चातुर्भौतिक है । तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु चारों तत्त्वों के गुण शरीर में पाये जाते हैं ।

अब, पञ्चभौतिक बताने वालों का मत देते हैं —

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पञ्चभौतिकम् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः=गन्ध, द्रव्य, पाक, तेज, संयोग, व्यह और अवकाश के होने से, पञ्चभौतिकम्=शरीर का पञ्चभौतिक होना सिद्ध है ।

व्याख्या—शरीर में तीन या चार तत्वों का मिश्रण ही नहीं पाया जाता, किन्तु पञ्च तत्वों के संयोग से बना हुआ ही सिद्ध होता है । उसमें गन्ध, पतलापन, पाक उष्णता, श्वांस प्रश्वांस आदि के साथ अवकाश भी पाया जाता है । अवकाश आकाश का गुण है और उसकी उपलब्धि होने से शरीर का पञ्चभौतिक होना ही सिद्ध होता है ।

अब शङ्का करते हैं कि शरीर के पार्थिव होने में क्या प्रमाण हैं ?

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—श्रुति प्रामाण्यात्=श्रुति के प्रमाण से, च=भी शरीर का पार्थिव होना सिद्ध होता है ।

व्याख्या—"सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्" "पृथिवी ते शरीरम्" इस प्रकार श्रुति में कहा गया है। मरने पर यह उक्ति है कि 'तेरे चक्षु सूर्य में चले जाँय'. 'तेरी देह पृथिवी में मिल जाय।' सांख्यमत में "नाशः कारणलयः" कह कर कार्य का अपने कारण में लीन हो जाने को नाश कहा है। इसलिए यदि शरीर पृथिवी का कार्य है तो पृथिवी में ही मिलेगा। यजुर्वेद में "भस्मान्त शरीरम्" कह कर शरीर के भस्म होने की जो बात कही है, वह भी शरीर के पार्थिव होने को ही सिद्ध करती है।

अगले सूत्र में इन्द्रियों का विचार करेंगे—

कृष्णसारे सत्युपलम्भात् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—कृष्णसारे = नेत्र की पुतली के, सति = होने पर, उपलम्भात् = विषय की प्राप्ति से, च = एवं, व्यतिरिच्य = विषय प्राप्त होकर नेत्र से प्राप्त होने से, संशयः = इन्द्रियों के भौतिक होने के सम्बन्ध में शङ्का होती है।

व्याख्या—समस्त रूपों की उपलब्धि नेत्र की पुतली से ही होती है। इसलिये नेत्र-गोलक ही सब कुछ है। यदि नेत्र की पुतली न हो तो विषयों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके सिवाय भी विषयों की उपलब्धि होने से इन्द्रियों के भौतिक या अभौतिक होने की शङ्का होती है। तात्पर्य यह है कि आँख में काले रङ्ग की जो पुतली है, वही रूप को ग्रहण करती है। यदि पुतली होगी तो रूप दिखाई देगा, अन्यथा नहीं दिखाई देगा और वह पुतली भौतिक है, इसलिये आँख भी भौतिक ही समझनी चाहिये। परन्तु, एक पक्ष और है जो इसके विपरीति कहता है। अर्थात् नेत्र की पुतली रूपों को तभी ग्रहण करेगी जब वे कुछ दूर पर होंगे, यदि कोई वस्तु पुतली से मिला दी जाय, तो उसे कुछ भी

दिखाई न देगा। इससे सिद्ध होता है कि पुतली नेत्र के अन्दर रहती है, परन्तु जब वृत्ति बाहर निकलकर विषय में तदाकार होजाती है, तब रूप का ग्रहण होता है। वह वृत्ति नेत्र की पुतली से भिन्न वस्तु है। इससे यह समझा जाता है कि इन्द्रियाँ अभौतिक हैं, क्योंकि अप्राप्त अथवा दूर की वस्तु को कोई भौतिक पदार्थ ग्रहण नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में दो मत होने से, इन्द्रियाँ भौतिक हैं या अभौतिक, यह शङ्का उत्पन्न होती है। अगले सूत्र में इस पर पूर्व पक्ष का मत व्यक्त करेंगे।

महदणुग्रहणात् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—महदणु=महत और अणु पदार्थ का, ग्रहणात्=ग्रहण होने से इन्द्रियों को अभौतिक मानना ही ठीक है।

व्याख्या—नेत्र के द्वारा छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पदार्थ का ग्रहण होने से यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ भौतिक नहीं, अभौतिक हैं। जिस नेत्र से बड़े-बड़े वृक्ष और पर्वत आदि दिखाई देते हैं, उसी नेत्र से राई के दाने जैसे छोटे-से-छोटे पदार्थ भी देखे जाते हैं। यदि नेत्र भौतिक होते तो ऐसा नहीं हो सकता था। इससे नेत्र का अभौतिक होना ही सिद्ध है।

अगले सूत्र में इस शङ्का का समाधान करेंगे—

रश्म्यर्थ सन्निकर्ष विशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ—रश्म्यर्थ सन्निकर्ष विशेषात्=रश्मि और नेत्र के विशेष संयोग से, तद्ग्रहणम्=महत् और अणु पदार्थों का ग्रहण होता है, अभौतिक पदार्थ का ग्रहण नहीं होता है।

व्याख्या—सूर्य की किरणें और नेत्र की पुतली दोनों के संयोग

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥३७॥

सूत्रार्थ—अनुमीयमानस्य=अनुमान से सिद्ध हुई वस्तु का, प्रत्यक्षतः=प्रत्यक्ष से, अनुपलब्धिः=उपलब्धि न होनां, अभाव हेतुः=अभाव का हेतु नहीं है ।

व्याख्या—अनुमान से सिद्ध हुई वस्तु यदि प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो तो भी उसका अभाव न समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु को अनुमान से जान लें कि वह है, परन्तु प्रत्यक्ष से कभी दिखाई न दे तो उसका न होना नहीं कह सकते । इसलिये, नेत्र में ज्योति प्रत्यक्ष से भले ही दिखाई न देती हो, परन्तु, उसका होना अनुमान से सिद्ध होने के कारण, असिद्ध नहीं कह सकते । जैसे चन्द्रमा के पीछे का भाग और पृथिवी के नीचे का भाग दिखाई न देने पर भी, अनुमान से सिद्ध है, तो उसका प्रत्यक्ष दिखाई न देना उसके अभाव का सूचक नहीं है । इसलिये नेत्र में ज्योति का प्रत्यक्ष न दीखना यह सिद्ध नहीं करता कि नेत्र में ज्योति है ही नहीं ।

इसी पक्ष का पुनः समर्थन करते हैं—

द्रव्यगुण धर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ - च=तथा, द्रव्य गुण धर्मभेदात्=द्रव्य और गुण के धर्म भेद से, उपलब्धिनियमः=प्रत्यक्ष उपलब्धि का नियम माना जाता है ।

व्याख्या—द्रव्य और गुण में धर्म भेद होने से प्रत्यक्ष उपलब्धि का नियम है । तात्पर्य यह है कि अनेक द्रव्य प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होने पर भी अपने गुणों से ग्रहण किये जाते हैं । जैसे जल के सूक्ष्म परमाणु आकाश में व्याप्त रहते हैं, परन्तु, वे नेत्र से दिखाई नहीं देते । वे शीत के स्पर्श से अनुभव में आते हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा जाड़ा अथवा ठंड पड़ती है । इसी प्रकार अग्नि के सूक्ष्म परमाणु आकाश में व्याप्त रहकर

गर्मी की ऋतु को उत्पन्न करते हैं और उन्हीं के द्वारा वायु उष्ण होकर लू आदि के रूप में चलता है। यह परमाणु भी नेत्र से अग्राह्य हैं। इसलिये द्रव्य मात्र दिखाई दे, ऐसा कोई नियम नहीं है।

अगले सूत्र में, इसी पक्ष को विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनेक द्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥३९॥

सूत्रार्थ—अनेक द्रव्य समवायात्=अनेक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से, च=और, रूप विशेषात्=रूप की विशेषता से, रूपोपलब्धिः=रूप की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—रूप तेज का गुण है, वह दो प्रकार का है। एक तो उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष होता है, दूसरा अनुभव अथवा स्पर्श से प्रत्यक्ष होता है। जहाँ रूप और उसके आश्रय रूप द्रव्य को प्रत्यक्ष में देखते हैं, उसे रूप विशेष कहते हैं। जिसके होने से ही रूप का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। रूप के इस धर्म को उद्भूत कहते हैं। नेत्र की ज्योति में उद्भूत होना रूप धर्म न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। तेज में उद्भव और स्पर्श दोनों की उपलब्धि है। जैसे सूर्य रश्मियों का नेत्र से दिखाई देना और त्वचा से स्पर्श का अनुभव होना प्रत्यक्ष है। किसी-किसी पदार्थ में रूप का प्रत्यक्ष होना तो पाया जाता है, परन्तु, स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे, दीपक की मन्द ज्योति नेत्र से तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है, परन्तु, त्वचा को उसकी उष्णता का अनुभव तब तक नहीं होता, जब तक कि वह त्वचा के बिल्कुल ही समीप न आ जाय। कोई-कोई पदार्थ स्पर्श से तो उद्भूत रूप हैं, परन्तु, नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं होते। जैसे गर्म जल में स्पर्श करने पर गर्मी का अनुभव होता है, परन्तु, गर्मी का रूप दिखाई नहीं देता। कोई-कोई पदार्थ ऐसे भी हैं जिनमें रूप और स्पर्श दोनों का अनुद्भव रहता है, जैसे नेत्र की ज्योति। इससे सिद्ध होता है कि अनेक द्रव्यों के समवाय संयोग और रूप विशेष से रूप की उपलब्धि होती है।

अगले सूत्र में नेत्र ज्योति, सूर्य रश्मि या दीपक की ज्योति के समान उद्भूत रूप क्यों नहीं होती, इसका समाधान करते हैं—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥४०॥

सूत्रार्थ—च = और, कर्मकारितः = अदृष्ट रूप कर्म से, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों की, व्यूहः = रचना, पुरुषार्थ तन्त्रः = पुरुषार्थ के आधीन है ।

व्याख्या—सभी इन्द्रियों की रचना जीवात्मा के अदृष्ट कर्म फल को भोगने के लिये की गई है और सभी इन्द्रियाँ आत्मा के अधीन हैं । जैसे चेतन आत्मा सुख-दुःख आदि को प्राप्त करता रहता है, वैसे ही इन्द्रियाँ उक्त सुख-दुःख आदि को प्राप्त कराने के लिये जीवात्मा को साधन रूप हैं । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ और देह आदि स्वतन्त्र नहीं हैं, वे आत्मा के कर्म-फल को उपलब्ध कराने वाले साधन मात्र हैं । यदि कर्मों का भोग न होता तो शरीर और इन्द्रिय भी न होते । जैसे कि मुक्तावस्था प्राप्त आत्मा के शरीर आदि नहीं रहते और उसे जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आना होता ।

अगले सूत्र में इसी को और स्पष्ट करते हैं—

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिक धर्मः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—च = और, अव्यभिचारात् = व्यभिचार दोष न होने से, प्रतीघातः = पदार्थ का प्रतिषेध, भौतिक धर्मः = भूतों का धर्म है ।

व्याख्या—किसी आवरण के होने से इन्द्रिय के विषय ग्रहण करने में रुकावट होना भौतिक धर्म कहा गया है । उससे भूतों में व्यभिचार का प्रसंग उपस्थित नहीं होता । क्योंकि, जो पदार्थ अभौतिक हैं, उनके लिये कहीं कोई बाधा नहीं है । यदि कहें कि आवरण की बाधा होने से

इन्द्रिय को भौतिक मानना होगा, तो ऐसा नहीं है। जैसे काँच के पारदर्शक होने से अथवा जल के पारदर्शक होने से नेत्र काँच अथवा जल के आवरण से नहीं रुकते, नेत्र-ज्योति उसके दूसरी ओर की वस्तु को देखने में समर्थ है, इसलिये रुकावट न होने से इन्द्रिय को अभौतिक भी मानना पड़ेगा।

अगले सूत्र में अनुपलब्धि का अन्य हेतु देते हैं—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥४२॥

सूत्रार्थ—मध्यन्दिनोल्का=दुपहरी में तारों के, प्रकाशानुपलब्धिः=प्रकाश की उपलब्धि न होने के, वत्=समान, तदनुपलब्धिः=उसकी अनुपलब्धि समझनी चाहिये।

व्याख्या—तारे सदा रहते हैं, परन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर दिखाई नहीं देते। परन्तु, दिखाई न देने से उनका अभाव नहीं माना जाता। इसी प्रकार नेत्रों में ज्योति तो होती है, परन्तु वह दिखाई नहीं देती, इसलिये, उसका न होना नहीं कह सकते। क्योंकि जो पदार्थ अनुद्भूत रूप स्पर्श धर्म वाला है, उसकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होती। यही कारण है कि नेत्र में ज्योति होते हुए भी वह दिखाई नहीं देती।

अगले सूत्र में वादी की शंका कहते हैं—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४३ ॥

सत्रार्थ—रात्रौ=रात को, अपि=भी, अनुपलब्धेः=उपलब्धि न होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—यदि कहें कि किसी वस्तु की उपलब्धि न हो तो उसका अभाव ही समझा जायगा, अन्यथा यह कहा जा सकता है कि मिट्टी में भी प्रकाश है, परन्तु वह सूर्य के प्रकाश में दब जाने से नहीं

दिखाई देता, तो इसका समाधान यह है कि मिट्टी के ढेले का प्रकाश यदि दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर दिखाई न देता तो रात्रि में तो दीख पड़ता। परन्तु, रात्रि में भी दिखाई न देने से, यही मानना होगा कि मिट्टी में प्रकाश का अभाव है। इससे सिद्ध हुआ कि जो वस्तु किसी भी समय उपलब्ध नहीं, उसकी उपलब्धि मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

तारे के समान नेत्र ज्योति का अन्य तैजस पदार्थ से अभिभूत होना क्यों न मान लें, इस पर कहते हैं—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽ नुपलब्धिः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ—बाह्यप्रकाशानुग्रहात्=बाहरी प्रकाश के संयोग से, विषयोपलब्धेः=विषय की उपलब्धि तथा, अनभिव्यक्तितः= अभिव्यक्ति न होने से, अनुपलब्धिः=रूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या—बाह्य प्रकाश अर्थात् सूर्य आदि के प्रकाश की सहायता से नेत्र देखने में समर्थ होता है। यदि बाह्य प्रकाश न हो तो नेत्र किसी भी वस्तु को नहीं देख सकता। परन्तु, बाह्य प्रकाश उद्भूत रूप पदार्थों को ही दिखाने में सहायक होता है, अनुद्भूत पदार्थ उसके द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। क्योंकि बाह्य प्रकाश से स्थूल पदार्थ ही देखे जा सकते हैं, सूक्ष्म पदार्थ नहीं देखे जा सकते। नेत्र की ज्योति भी सूक्ष्म पदार्थ है, इसलिये उसका देखा जाना बाह्य प्रकाश से भी सम्भव नहीं है।

इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ—अभिव्यक्तौ=अभिव्यक्त होने से, च=और,

बाहरी प्रकाश के सहारे से, अभिभवात्=अभिभव होना माना जाता है।

व्याख्या—जो पदार्थ प्रकट रूप होते हैं और बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखते, उन्हीं का अभिभव होता है। जैसे तारे, दीपक आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनके लिये किसी बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, परन्तु, वे सूर्य आदि के प्रकाश के सामने दब जाने से दिखाई नहीं देते। जो पदार्थ उद्‌भूत रूप नहीं होते, परन्तु बाहरी प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं, वे नहीं दब पाते। जैसे घट, पट आदि स्थूल पदार्थ तथा नेत्र ज्योति। परन्तु, नेत्र ज्योति तारे या दीपक आदि के समान अभिव्यक्त पदार्थ नहीं है, इसलिये उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। यदि कहें कि रात्रि में भ्रमण करने वाले जीवों के नेत्रों में तेज की किरणें दिखाई देती हैं, जैसे सिंह आदि की, तो मनुष्य की नेत्र-ज्योति क्यों नहीं दिखाई देती ? इसका उत्तर यह है कि सिंह आदि तीव्र ज्योति वाले जीव हैं, उनके नेत्रों की ज्योति इसलिये दिखाई देती है, परन्तु मंद ज्योति वालों की ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी बात को कहते हैं—

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—नक्तञ्चर=रात्रि में विचरण करने वाले जीवों में, नयनरश्मि=नेत्र ज्योति, दर्शनात्=दिखाई देने से, च=भी नेत्र में ज्योति होने के सिद्धान्त की मान्यता होती है।

व्याख्या—रात्रि में विचरण करने वाले जीवों की नेत्र रश्मि अँधेरे के कारण प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उनके नेत्र तैजस धर्म वाले कहे जाते हैं। अर्थात् तीव्र ज्योति होने के कारण उसकी उपलब्धि होती है। मनुष्यों या अन्य मंद ज्योति वाले प्राणियों में उसके दिखाई न देने से ज्योति का अभाव नहीं कह सकते।

अगले सूत्र में इस पर शंका करते हैं—

अप्राप्यग्रहणंकाचाऽभ्रपटलस्फटिकान्त-
रितोपलब्धेः ।। ४७ ।।

सूत्रार्थ—काचाऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः = कांच, अभ्रक, स्फटिक का व्यवधान होने से विषयोपलब्धि होने पर, अप्राप्य ग्रहणम्=बिना प्राप्ति के ही नेत्र विषय का प्रकाश करते ।

व्याख्या—इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग ही रूप को प्रत्यक्ष नहीं कर देता । क्योंकि, काँच अभ्रक और स्फटिक आवरण रूप होने पर भी, उनमें से नेत्र के द्वारा रूप का ग्रहण होता है । । यदि इन्द्रिय और विषय के संयोग मात्र से ही रूप प्रत्यक्ष हो जाता होता तो आवरण होने पर कोई भी वस्तु दिखाई न देती । परन्तु, ऐसा नहीं होता, इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय अप्राप्य को भी ग्रहण करने में समर्थ है । इसलिये उसे भौतिक नहीं कह सकते । क्योंकि, भौतिक पदार्थ तो केवल प्राप्त को ही ग्रहण कर सकता है, अप्राप्त को नहीं कर सकता ।

अगले सूत्र में उक्त शंका का समाधान करेंगे—

न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ।।४८।।

सूत्रार्थ—कुड्यान्तरितानुपलब्धेः=भीत का आवरण होने पर, अनुपलब्धि, न= नहीं होती, इसलिये, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—भीत का आवरण बीच में आ जाने से नेत्र को उसके परली ओर की वस्तु दिखाई नहीं देती । यदि नेत्र में अप्राप्य वस्तु के ग्रहण करने की भी शक्ति होती और वे भौतिक न होते तो भीत अर्थात् दीवार का आवरण भी पीछे की वस्तु को देखने में बाधक नहीं हो सकता था । काँच आदि के आवरण में देख लेना और भीत आदि के आवरण में न देख सकना अप्राप्य के ग्रहण करने में परस्पर विरोधी होने से मान्य

नहीं है। काँच आदि के पारदर्शक होने का धर्म ही उसके विषय की उपलब्धि का कारण है, नेत्र ज्योति का अभौतिक होना नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि नेत्र में अप्राप्य विषय के ग्रहण करने की शक्ति नहीं है और वह भौतिक है।

अब इसका समाधान करेंगे—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥४६॥

सूत्रार्थ—अप्रतिघातात्=प्रतिघात न होने से, सन्निकर्षोपपत्तिः=समीपता की प्राप्ति है।

व्याख्या—प्रतिघात न होने से संयोग की सिद्धि है। तात्पर्य यह है कि काँच, अभ्रक आदि पदार्थ इतने स्वच्छ हैं कि वे नेत्र की दृष्टि को रोकने में समर्थ नहीं हैं। इसलिये उनके आवरण रूप होने पर भी विषय संयोग में रुकावट नहीं होती। क्योंकि, संयोग के होने पर ही रूप का ग्रहण हो सकता है, संयोग के न होने पर नहीं हो सकता। इस पर अन्य दृष्टान्त देते हैं —

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥५०॥

सूत्रार्थ—स्फटिकान्तरे=बीच में स्फटिक के होने पर, अपि=भी, दाह्ये=जले हुये पदार्थ में, आदित्य रश्मेः=सूर्य-रश्मि की, अविघातात्=रुकावट न होने से, उक्त मान्यता का ठीक होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—सूर्य की किरणें काँच आदि के आवरण को पार कर जाती हैं, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण काँच आदि रूप आवरण का गर्म हो जाना है। जब किसी बर्तन में पानी भर कर नीचे अग्नि जला देते हैं तो अग्नि की गर्मी बर्तन के पेंदे को पार करती हुई, पानी में पहुँच कर उसे गर्म कर देती है। इससे सिद्ध होता है कि तेज की किरणें सूक्ष्म हैं और वे

आवरण से भी नहीं रुक पातीं। घड़े आदि का आवरण सूर्य की किरणों को भी उसमें भरे हुए पानी को गर्म करने से नहीं रोक सकता।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥५१॥

सूत्रार्थ—इतरेतर=अलग-अलग, धर्मप्रसंगात्=धर्म का प्रसङ्ग होने से, यह मान्यता, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—काँच आदि के आवरण में नेत्र दृष्टि का न रुकना और दीवार आदि के आवरण में दृष्टि का रुक जाना, यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। यदि नेत्र दृष्टि को अभौतिक मानें तो उसमें दीवार के आवरण से भी रुकावट नहीं होनी चाहिये। परन्तु, ऐसा होने से उपरोक्त मान्यता का ठीक होना नहीं कह सकते।

अब इस आक्षेप का समाधान करेंगे—

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥५२॥

सूत्रार्थ—प्रसादस्वाभाव्यात्=स्वाभाविक स्वच्छता होने से, आदर्शोदकयोः=शीशे और जल में, रूपोपलब्धिवत्=रूप की उपलब्धि के समान, तदुपलब्धिः=उसको उपलब्धि है।

व्याख्या—जैसे शीशा और जल अपनी स्वाभाविक स्वच्छता के कारण नेत्र ज्योति को नहीं रोक सकते, वैसे ही भीत आदि के मलीन होने से वे रुकावट के कारण होते हैं। दर्पण आदि में नेत्र दृष्टि भीतर प्रविष्ट होकर उस पर प्रतिबिम्ब बनाती है, इसलिये संयोग का प्रतिघात नहीं होता। परन्तु, दीवार स्वभाव से मलीन होने के कारण प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकती। इस प्रकार काँच आदि और दीवार आदि के स्वभाव में अन्तर होने से नेत्र-दृष्टि का प्रभाव उन पर समान रूप से नहीं पड़ सकता।

इसी की सिद्धि में पुनः कहते हैं—

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ।।५३।।

सूत्रार्थ—दृष्टानुमितानाम्=दृष्टि और अनुमित वाली वस्तु का, नियोगप्रतिषेधः=नियोग और प्रतिषेध, अनुपपत्तिः=नहीं हो सकता।

व्याख्या—जो वस्तु प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अथवा जिसका सही अनुमान होता है, उस वस्तु का नियोग और प्रतिषेध होना नहीं मान सकते। जैसे काँच का आवरण होने पर भी उसमें से दूसरी ओर की वस्तु दिखाई देती है, परन्तु, दीवाल के पीछे की वस्तु नहीं दिखाई देती यह बात अनुमान भी नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। अब इसमें यह कहना कि काँच में दिखाई क्यों देता है? दीवाल में क्यों नहीं दिखाई देता? यह तर्क निरर्थक है। क्योंकि, हर वस्तु की बनावट और क्षमता भिन्न-भिन्न होती है, इसलिये, सब पदार्थों में समान नियम नहीं है। नेत्र से रूप ग्रहण होता है और नासिका से गंध की उपलब्धि होती है। इनमें से एक दूसरे का नियोग मानना भी ठीक नहीं है। अब, यह विषय समाप्त किया जा रहा है। अगले सूत्र में, इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक, इस पर प्रकाश डालेंगे—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च-संशयः ।।५४।।

सूत्रार्थ—स्थानान्यत्वे=अवयव के भेद से, नानात्वात्=अनेकत्व के होने से, च=और, अवयवि नानास्थानत्वात्=अनेक स्थान में एक अवयवी के होने से, यह, संशयः=संदेहास्पद है।

व्याख्या-अनेक स्थान में अनेक पदार्थों के होने से और अनेक स्थान में एक अवयवी के होने से यह भेद मालुम होता है और तब यह

संदेह होने लगता है कि इन्द्रियाँ एक हैं अथवा अनेक ? क्योंकि अनेक द्रव्य, अनेक स्थानों में पृथक्-पृथक् रूप से देखे जाते हैं, जैसे एक ही शरीर में हाथ, पाँव, अँगुलियाँ आदि अनेक अवयव हैं और इन सभी अवयवों में एक ही जीवात्मा निवास करता है। इससे यह सन्देह होता है कि हाथ, पाँव, अंगुली आदि के समान इन्द्रियाँ भी अलग-अलग हैं अथवा एक ही हैं।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

त्वगव्यतिरेकात् ॥५५॥

सूत्रार्थ—अव्यतिरेकात्=व्यतिरेक के न होने से, त्वक्=खाल ही एक है।

व्याख्या—खाल अर्थात् त्वचा एक ही है और पूरे शरीर में व्याप्त है, इससे सिद्ध होता है कि वही एक इन्द्रिय है। क्योंकि शरीर में ऐसा कोई भाग नहीं, जिस पर त्वचा न हो। यदि त्वचा न होती तो अन्य इन्द्रियों के होते हुए भी कोई विषय ग्राह्य नहीं हो सकता था। इसलिये केवल त्वचा को ही सब इन्द्रियों में प्रधान और व्यापक इन्द्रिय मानना चाहिये।

अब इस मत पर आक्षेप करेंगे—

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥५६॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः=अन्य इन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि न होने से, न=ऐसा मानना ठीक नहीं।

व्याख्या—अन्धे को नेत्र वाले पुरुष के समान ज्ञान नहीं होता। यदि त्वचा ही से ज्ञान होता तो अन्धे को भी वैसा ज्ञान होना चाहिये था। बहरे को भी कान से सुनाई देने वाले के समान विषय ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि त्वचा ही सब विषयों का ज्ञान कराने

वाली नहीं है, किन्तु, अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी उन-उन से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान होता है। त्वचा से तो केवल स्पर्श का ही ज्ञान होता है, गन्ध, रूप, रस और शब्द का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियाँ तो नासिका, नेत्र, जिह्वा एवं श्रोत्र हैं। इससे इन्द्रियों का अनेकत्व सिद्ध होता है।

इस पर आक्षेप करते हैं—

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तादुपलब्धिः ॥५७॥

सूत्रार्थ—त्वगवयव=त्वचा के अवयवों की, विशेषेण=विशेषता से, धूमोपलब्धिवत्=धुँए की उपलब्धि के समान, तदुपलब्धिः=रूप आदि की उपलब्धि होती है।

व्याख्य—जैसे त्वचा का विशेष भाग धुँए की उपलब्धि कराता है, उसी प्रकार, रूप की भी उपलब्धि कराता है। इसी प्रकार त्वचा के किसी भाग से रस की, किसी से शब्द की उपलब्धि होती है। त्वचा के विशेष भाग के नष्ट हो जाने पर न धुँए की उपलब्धि होती है और न रूप की ही। नेत्र, श्रोत्र, जिह्वा आदि त्वचा के विशिष्ट भाग ही हैं, इनमें से नेत्र के न होने से रूप का ग्रहण नहीं होगा और श्रोत्र के न रहने से शब्द का तथा जिह्वा के न रहने से रस का ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिये त्वचा को ही इन्द्रिय मानना अनुचित नहीं है।

अगले सूत्र में इसका खण्डन करेंगे।

आहतत्वादहेतुः ॥५७॥

सूत्रार्थ—आहतत्वात्=व्याघात होने से, अहेतुः=उपरोक्त हेतु प्रामाणिक नहीं है।

व्याख्या—व्याघात दोष के होने से उक्त हेतु, अहेतु समझना चाहिये। वादी ने पहले कहा था कि शरीर का कोई भाग अलग नहीं है और सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है। परन्तु, अब उसके विपरीत कहता है कि त्वचा के एक विशेष भाग से धुँए आदि के

समान रूप आदि की प्राप्ति होती है। विशेष भागों के द्वारा विषयों का ग्रहण किया जाना और उनके न होने से ग्रहण न किया जाना, यह सिद्धान्त विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का अनेकत्व सिद्ध करता है। इस प्रकार वादी का पहिले कहा हुआ मत स्वयं ही कट जाता है। इन्द्रियों के सभी स्थानों में त्वचा के व्यापक होने से उसे एक इन्द्रिय कहा है, परन्तु ऐसा कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि, यदि सब में व्याप्त होने से ही त्वचा सर्व ज्ञान की उपलब्धि करा सकती तो यह पंच भूतों को ही इन्द्रिय क्यों न मान लें। क्योंकि यह भी सर्वत्र व्याप्त और इन्द्रियों के आश्रयभूत भी हैं। यदि ऐसा नहीं मान सकते तो त्वचा को भी एक इन्द्रिय मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता।

इसी पक्ष में एक अन्य हेतु देते हैं—

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥५९॥

सूत्रार्थ—युगपत्=एक ही समय में, अर्थानुपलब्धेः=सब विषयों की अनुपलब्धि मानना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—त्वचा एक इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा एक ही समय में बहुत से विषयों का ज्ञान नहीं होता और सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होने से वह सभी विषयों का ज्ञान कराने का सामर्थ्य रखती है। परन्तु, ऐसा न होने से इन्द्रियों का अनेक होना सिद्ध होता है। त्वचा को एक इन्द्रिय मानने वाले यह बतायें कि त्वचा के रहते हुये कोई अंधा बहरा होगा या नहीं ? यदि हो सकता है तो उनका मत असत्य सिद्ध होता है। क्योंकि, त्वचा के होने से भी नेत्र के बिना रूप का और श्रोत्र के बिना शब्द का ज्ञान हो नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ शरीरस्थ सभी इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों को अलग-अलग ग्रहण करती हैं और त्वचा एक मात्र इंद्रिय नहीं है।

अगले सूत्र में इस पर अन्य हेतु देते हैं—

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥६०॥

सूत्रार्थ—विप्रतिषेधात्=विप्रतिषेध होने से, च=भी, त्वक्=त्वचा, एका=एक इन्द्रिय, न=नहीं है ।

व्याख्या—विप्रतिषेध अर्थात् दो समान शक्तियों का पारस्परिक विरोध होने से भी त्वचा को एक इन्द्रिय नहीं मान सकते। जैसे नेत्र से दूर के पदार्थ देखे जा सकते हैं, परन्तु त्वचा से दूर के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता । यदि त्वचा एक ही इन्द्रिय होती तो उसमें दूर की वस्तु का ग्रहण और रूप का ग्रहण दोनों के करने की सामर्थ्य होती । अथवा मिली हुई वस्तु के समान उससे रूप का भी ज्ञान होना चाहिये था । परन्तु, रूप का ज्ञान दूर से और स्पर्श का ज्ञान संयोग से अर्थात् किसी वस्तु को छूने से ही हो सकता है । । इन दोनों में परस्पर विरोध होने से यही मानना ठीक है कि रूप को ग्रहण करने वाली तथा स्पर्श को ग्रहण करने वाली इंद्रियाँ पृथक्-पृथक् ही हैं । इसलिये त्वचा को एक इंद्रिय कहना उचित नहीं है ।

इसी पक्ष में पुनः युक्ति उपस्थित करते हैं—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥६१॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियार्थ=इन्द्रियों के विषय, पञ्चत्वात्=पाँच होने से भी यही मान्यता ठीक है ।

व्याख्या—रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श यह पाँच विषय हैं इनको ग्रहण करने वाली पाँच इंद्रियाँ हैं—नेत्र, जिह्वा, नासिका, श्रोत्र और त्वचा । इसका तात्पर्य है कि रूप को केवल नेत्र ही ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि अन्य इन्द्रियों से रूप की उपलब्धि नहीं होती । रसास्वादन करने वाली इन्द्रिय जिह्वा है, अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा रस ग्रहण नहीं हो सकता । गंध का ज्ञान नासिका से होता है और शब्द का श्रोत्र के द्वारा । इसी प्रकार त्वचा से केवल स्पर्श का ही ज्ञान हो सकता

है। वह किसी अन्य विषय का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पाँच विषयों का ज्ञान उन्हीं से सम्बन्धित इंद्रियों के द्वारा होता है। उनमें से त्वचा भी एक इंद्रिय है।

अगले सूत्र में इस पर पुनः शङ्का करते हैं—

न तदर्थ बहुत्वात् ॥ ६२ ॥

सूत्रार्थ—तदर्थ बहुत्वात्=इन्द्रियों के विषय अनेक होने से, न=ऐसी मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—इन्द्रियों के बहुत-से विषय हैं, इसलिये पाँच ही इन्द्रियाँ हैं, ऐसी मान्यता ठीक नहीं। जैसे ठण्डा और गर्म के भेद से स्पर्श कई प्रकार का है, अथवा काला, श्वेत, पीला आदि के भेद से रूप के भी अनेक प्रकार हैं, गन्ध में भी सुगन्ध और दुर्गन्ध, उसमें भी विभिन्न प्रकार की सुगन्ध और दुर्गन्ध होने से अनेकों भेद हैं। वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक भेद से शब्द भी भेद वाला है। कड़ुआ या मीठा होना रस का भी भेद है और उसमें भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। इससे सिद्ध हुआ कि विषयों के असंख्य होने से इन्द्रियाँ भी असंख्य हैं, केवल पाँच ही नहीं हो सकतीं।

अब, इसका समाधान करेंगे—

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः॥ ६३ ॥

सूत्रार्थ—गन्धादीनाम्=गन्ध आदि में, गन्धत्वाद्य=गन्धत्व आदि का, व्यतिरेकात्=व्यतिरेक होने से, अप्रतिषेधः=निषेध किया जाना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—गन्ध आदि के सामान्य धर्म से, गन्ध आदि का उनसे पृथक् नहीं होना उसका निषेध सिद्ध नहीं करता। जैसे सुगन्ध हो या दुर्गन्ध, दोनों में गन्धत्व है, इसलिये जहाँ गन्धत्व है वहाँ दोनों की एकता

है और दोनों का ग्रहण नासिका द्वारा ही होता है, किसी अन्य इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। इसी प्रकार स्पर्श ठण्डा हो या गर्म उसमें स्पर्शत्व तो है ही और वह केवल त्वचा के द्वारा ही ग्रहण होगा। शब्द वर्णात्मक हो या ध्वन्यात्मक, उसमें शब्दत्व तो है ही और कान ही उसे सुनेंगे। रस कड़ुआ हो या मीठा, रसत्व दोनों भेदों में होगा और उसका स्वाद जिह्वा से ही मालुम हो सकेगा। रूप भी काला, पीला, सफेद, लाल कैसा भी क्यों न हो, उसमें रूपत्व अवश्य होगा, और वह केवल नेत्र द्वारा ही ग्रहण किया जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि विषयों की पाँच जातियाँ ही हैं और उनका ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी पाँच ही हैं। इसलिये इन्द्रियों के असंख्य होने की कल्पना करना निरर्थक तथा अमान्य है।

अब, अगले सूत्र में इस पर पुनः शङ्का करते हैं—

विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ६४ ॥

सूत्रार्थ—विषयत्वाऽव्यतिरेकात्=विषयत्व के व्यतिरेक न होने से, एकत्वम्=इन्द्रिय का एक होना सिद्ध है।

व्याख्या—विषयत्व एक ही वस्तु है। चाहे कोई भी विषय क्यों न हो, प्रत्येक में विषयत्व तो होगा ही। जब विषयत्व एक है, तो इन्द्रिय भी एक होनी चाहिये। जैसे सुगन्ध हो या दुर्गन्ध, दोनों में गन्धत्व का एक होना मानते हो तो, रूप हो या रस, शब्द हो या स्पर्श, सभी विषयों में एक ही विषयत्व का होना क्यों नहीं मानते? यदि मानते हो तो उस विषयत्व को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय भी एक ही माननी होगी। क्योंकि एक विषयत्व के मानने पर इन्द्रियों के अनेकत्व की कल्पना युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकती। इससे यही मानना चाहिये कि इन्द्रिय एक ही हैं।

अब इस पर आक्षेप करते हैं—

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृति-जातिपञ्चत्वेभ्यः ॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ—बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिः=बुद्धि, लक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति, पञ्चत्वेभ्यः=इन पाँच के होने से, न=इन्द्रिय को एक नहीं मान सकते ।

व्याख्या—बुद्धि का तात्पर्य ज्ञान से है, वह नेत्र आदि भेदों से पाँच प्रकार का है। जब ज्ञान के पाँच भेद हैं तो उसके कारण भी पाँच ही होंगे। इन्द्रियों के अधिष्ठान अर्थात् स्थान भी पाँच हैं अर्थात् स्पर्श का अधिष्ठान त्वचा, रूप का अधिष्ठान नेत्र की पुतली, गन्ध का नासिका, रस का जिह्वा और शब्द का श्रोत्र। गति-भेद भी पाँच प्रकार का ही है—इन्द्रियों की आकृति भिन्न-भिन्न हैं और वह भी पाँच प्रकार की हैं। जाति अर्थात् कारण भी पाँच हैं नेत्र का तेज, जिह्वा का जल, श्रोत्र का आकाश, त्वचा का वायु और नासिका का पृथिवी। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों का होना बुद्धि, लक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति के आधार पर भी सिद्ध होता है, इसलिये इन्द्रिय का एक होना कहा जाना युक्तिसङ्गत नहीं है। अगले सूत्र में इन्द्रियों के कारण पाँच भूत कैसे हैं ? इस शङ्का का समाधान करेंगे।

भूत गुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ—भूतगुणविशेषोपलब्धेः=पृथिवी आदि पञ्चभूतों के गुणविशेष की उपलब्धि से, तादात्म्यम्=इन्द्रियाँ उन भूतों के कार्य हैं, यही सिद्ध होता हैं।

व्याख्या—गन्ध आदि का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों के कार्य हैं। जिस भूत की विशेषता वाली जो इन्द्रिय है, वह उसी के गुण से अभिभूत है। क्योंकि गन्ध आदि गुणों की पञ्चभूतों से प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। जैसे

वायु से स्पर्श की अनुभूति होती है, आकाश से शब्द, अग्नि से रूप, जल से रस और पृथिवी से गन्ध की। इस प्रकार पञ्चभूतों का अपने-अपने गुण विशेष से सम्बन्धित इन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है। इससे इन्द्रियों के कारण पञ्चभूत हैं, यही मानना ठीक है। जिस इन्द्रिय से जिस भूत के गुण विशेष का ज्ञान हो, वह इन्द्रिय उसी भूत का कार्य समझना चाहिये। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं और वे पञ्च-भूतात्मक हैं। अब इन पञ्चभूतों के गुण का वर्णन करेंगे।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानांस्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्यां अप्तेजोवायुनां पूर्वंपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६७ ॥

सूत्रार्थ—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानाम्=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इनमें, स्पर्शपर्यन्तापृथिव्याम्=स्पर्श पर्यन्त अर्थात् गन्ध, रूप, रस और स्पर्श यह चार गुण पृथिवी के हैं, और, पूर्वंपूर्वम्=पहले-पहले को छोड़कर, अप् तेजो वायुनाम्=जल, तेज और वायु का, और उत्तरः=सब के अन्त में, आकाशस्यः=अकाश का गुण कहा गया है।

व्याख्या—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श यह चार गुण पृथिवी के हैं। रस, रूप और स्पर्श यह तीन गुण जल के हैं। रूप और स्पर्श यह दो गुण अग्नि के हैं। स्पर्श वायु का गुण है और शब्द आकाश का। इस प्रकार पंचभूतों के गुण कहे गये हैं।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६८ ॥

सूत्रार्थ—सर्वगुणानुपलब्धे=सब गुणों की उपलब्धि न होने से, न= उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—जिस भूत का जो गुण है, वह उसी की कार्य-भूत

इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है, दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। इस लिए यह कथन ठीक नहीं कि नासिका से पृथिवी का गन्ध गुण ही ग्रहण होता है, शेष तीन गुण रस, रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती। जैसे पृथ्वी की इन्द्रिय नासिका कही है, उससे गन्ध गुण ही ग्रहण होता है, शेष तीन गुण नहीं ग्रहण होते। जल की इन्द्रिय जिह्वा केवल रस को ग्रहण करती है, रूप और स्पर्श को ग्रहण नहीं करती है। अग्नि की इन्द्रिय नेत्र से रूप का ही ग्रहण होता है, स्पर्श का नहीं होता। इस प्रकार जिस भूत की जो इन्द्रिय है, उसके द्वारा उस भूत के सब गुणों का ग्रहण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि उपरोक्त मान्यता दोष-पूर्ण है और उसकी सिद्धि नहीं होती।

एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६९ ॥

सूत्रार्थ—उत्तरोत्तराणाम्=बाद-बाद के भूतों में, एकैकस्य=एक-एक, एव=ही, उत्तर गुण सद्भावात्=उत्तरोत्तर गुण के होने से, तदनुपलब्धिः=उसकी उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पञ्चभूत हैं तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पाँच गुण हैं। इन पाँचों गुणों में एक-एक भूत का क्रमशः एक-एक ही गुण है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी का गुण गन्ध, जल का गुण रस, तेज का गुण रूप, वायु का गुण स्पर्श और आकाश का गुण शब्द है। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने कारण के गुण की ही उपलब्धि होती है। अन्य के गुण की उपलब्धि नहीं होती। इस पर शङ्का हो सकती है कि यदि एक-एक भूत का एक-एक गुण ही है तो सढ़सठवें सूत्र में पृथिवी के चार गुण, जल के तीन और अग्नि के दो क्यों कहे हैं ? अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ७० ॥

सूत्रार्थ—च = और, संसर्गात् = संसर्ग से, अनेक गुण ग्रहणम् = अनेक गुणों का ग्रहण होता ।

व्याख्या—प्रत्येक भूत में एक-एक ही गुण है । फिर भी उनमें एक दूसरे के परमाणु मिल जाते हैं। इसलिये, संसर्ग होने से उनमें विभिन्न भूतों के गुणों की उपलब्धि होती है । वास्तव में कार्य-रूप पृथिवी में ही चार गुण उपलब्ध होते हैं, कारण-रूप पृथिवी में नहीं । इसी प्रकार कार्यरूप जल में तीन गुण तथा कार्यरूप तेज में दो गुणों का होना पाया जाता है। कारणरूप भूतों में अधिक गुणों की उपलब्धि नहीं होती ।

अगले सूत्र में इसी को स्पष्ट करते हैं ।

विष्टं ह्यपरं परेण ॥७१॥

सूत्रार्थ—अपरम् = अपर में, अर्थात् पृथिवी आदि में, परेण = पर का, विष्टम् = सम्बन्ध, हि = ही है ।

व्याख्या—पृथिवी का जल के साथ सम्बन्ध होने से रस के साथ संयोग होने का ज्ञान होता है । अर्थात् पहिले पृथिवी का वर्णन है, उसके साथ दूसरे जल का सम्बन्ध होता है, जल के संसर्ग से पृथिवी के दो गुण हुए, फिर तेज से संसर्ग हुआ तो तीन गुण वाली और वायु का संसर्ग और होने से चार गुण वाली होती है । इस प्रकार चार गुण पृथिवी के माने गये हैं । इसी प्रकार जल में तेज और वायु के गुणों का समावेश होने से उसे तीन गुण वाला मानते हैं । इसी प्रकार अग्नि के साथ वायु का संसर्ग होने से उसके दो गुण रूप और स्पर्श कहे गये हैं । इस प्रकार गुणों की अधिकता संसर्गजन्य ही है, यथार्थ में तो प्रत्येक भूत का एक-एक गुण होता है ।

अब इस पर शंका करते हैं ।

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ।।७२।।

सूत्रार्थ—पार्थिवाप्ययोः=पार्थिव और आप्य द्रव्यों के, प्रत्यक्षत्वात्=प्रत्यक्ष होने से, न=उक्त मत मान्य नहीं है।

व्याख्या—एक भूत का एक गुण कहना ठीक नहीं। क्योंकि पार्थिव और आप्य द्रव्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि है। अर्थात् पृथिवी में गन्ध गुण और जल में रस प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यदि अग्नि का गुण रूप को मानें तो आग्नेय पदार्थ ही दिखाई देने चाहिये, जल आदि का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। परन्तु, ऐसा नहीं होता अर्थात् नेत्र केवल आग्नेय पदार्थों का ही ग्रहण नहीं करता, किन्तु पार्थिव और जलीय को भी देखता है, इसलिये संसर्ग से अनेक गुणों को ग्रहण करने वाली युक्ति सिद्ध नहीं होती। फिर यह कहना कि कार्य-रूप पृथिवी के चार गुण हैं, कारण-रूप पृथिवी का तो एक ही है, ठीक नहीं, क्योंकि, कारण का एक गुण है तो कार्य में चार गुण कहाँ से आ गये ? जो धर्म कारण में होंगे, वही तो कार्य में आवेंगे। कारण के विपरीत धर्म कार्य में आ ही नहीं सकते। परन्तु, पार्थिव पदार्थों में गन्ध के अतिरिक्त रस, रूप, स्पर्श भी पाया जाता है और जलीय पदार्थों में रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श मिलता है तथा आग्नेय पदार्थों में रूप के अतिरिक्त स्पर्श भी है। इससे एक-एक भूत में अनेक गुणों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो बहुत्व की उपलब्धि संसर्गज किस प्रकार हुई ? यदि वायु के संसर्ग से आग्नेय पदार्थ में स्पर्श गुण आ जाता है तो अग्नि के संसर्ग से वायु सम्बन्धी पदार्थ में रूप गुण क्यों नहीं आ जाता ? क्योंकि संसर्ग तो दोनों में ही हो सकता था। पार्थिव रस छै प्रकार का होता है और जल में एक मधुर रस ही है, इससे भी संसर्ग द्वारा पार्थिव पदार्थ में आप्य गुण की प्राप्ति सिद्ध नहीं होती। जल में केवल श्वेत रूप है, परन्तु, पृथिवी में लाल, पीला, नीला, हरा आदि विभिन्न रूप होने से भी पृथिवी में जल के संसर्ग से उसके गुण की उपलब्धि कहना निरर्थक है।

अगले सूत्र में घ्राण आदि में गन्ध आदि गुणों की प्रधानता के सम्बन्ध में कहते हैं।

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥७३॥

सूत्रार्थ—पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्=पहिले-पहिले गुण के उत्कर्ष से, तत्प्रधानम्=गुणों की प्रधानता है।

व्याख्या—गन्ध, रस, रूप और स्पर्श यह चार गुण पृथिवी के कहे गये हैं। इनमें प्रथम गुण गन्ध है, वह प्रथम होने से ही उत्कृष्ट है और बाद के रस, रूप, स्पर्श गुण गौण हैं। इसी प्रकार रस, रूप और स्पर्श गुण जल के हैं। इसमें रस प्रथम होने से प्रधान है और रूप, स्पर्श दोनों गौण हैं। तेज के गुण रूप और स्पर्श हैं, इनमें रूप प्रधान है। इन प्रधान गुणों को ही उनसे सम्बन्धित इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। इसी से सिद्ध होता है कि एक इन्द्रिय अनेक गुणों को ग्रहण नहीं करती।

अगले सूत्र में भी इसी की पुष्टि करते हैं।

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥७४॥

सूत्रार्थ—तु=तथा, भूयस्त्वात्=पृथिवी आदि भूतों के प्रभाव से, तद्व्यवस्थानम्=घ्राण आदि में इन्द्रियों का व्यवहार होने की व्यवस्था है।

व्याख्या—पृथिवी आदि भूतों के सभी कार्यों में गन्ध आदि गुणों की उपलब्धि होने पर भी नासिका-इन्द्रिय में पार्थिव गुणों की अधिकता है। इसी प्रकार जिस-जिस भूत से जो इन्द्रिय सम्बन्धित है, वह उसी-उसी भूत के गुण को ग्रहण करती है। जैसे पृथिवी के चार गुण हैं, परन्तु, उसमें उसका मुख्य गुण गन्ध ही है और पार्थिव गुण को ग्रहण करने वाली नासिका ही गन्ध-गुण को ग्रहण करती है। इसी प्रकार जल का प्रधान गुण रस है और जिह्वा उस गुण को ग्रहण करने के लिये नियत है। रूप अग्नि का गुण है, नेत्र उस गुण को ग्रहण करता

है। स्पर्श वायु का गुण है, उसे त्वचा और शब्द आकाश का गुण है, उसे कान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक गुण को ग्रहण करने के लिये उसकी निश्चित इन्द्रिय होने की व्यवस्था है। उस व्यवस्था के विपरीत व्यवहार नहीं होता।

अगले सूत्र में कहेंगे कि अपने-अपने गुणों को, बिना उनकी सहायता के इन्द्रियाँ ग्रहण क्यों नहीं करतीं ?

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥७५॥

सूत्रार्थ—सगुणानामिन्द्रिय=गुणों सहित इन्द्रिय में इन्द्रियत्व, भावात्=होने से।

व्याख्या—घ्राण आदि इन्द्रिय यदि भूतों का कार्य हैं तो उनमें भी गन्ध आदि गुणों की विद्यमानता होनी चाहिये, परन्तु, बाहरी वस्तु के होने पर ही उनमें गन्ध आदि की विद्यमानता होती है, बाहरी वस्तु के बिना नहीं होती। तात्पर्य यह है कि गन्ध वाली कोई वस्तु होगी, तभी नासिका को गन्ध का ज्ञान होगा, बिना वस्तु के गन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता अथवा रूप होगा, तभी नेत्र को रूप का ज्ञान होगा, रूप के न होने पर नहीं हो सकता। रस होगा तभी जिह्वा उसे ग्रहण करेगी, न होगा तो कहाँ से करेगी ? अथवा वायु चलेगा, तभी त्वचा को उसका स्पर्श-ज्ञान होगा। इसी प्रकार शब्द होगा तो कान उसे ग्रहण करेगा, न होगा तो कान में शब्द की विद्यमानता तो है नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य वस्तु के बिना, इन्द्रिय किसी गुण को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है।

अब, इसका समाधान करते हैं।

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥७६॥

सूत्रार्थ—च=और, तेनैव=उसी इन्द्रिय के द्वारा, तस्य=उसका, अग्रहणात्=ग्रहण न होने से इन्द्रियत्व के गन्धादि गुण उद्भूत रूप नहीं हो सकते।

व्याख्या—जिस-जिस इन्द्रिय द्वारा जिस-जिस विषय का ज्ञान होता है वह विषय वस्तु की सहायता से ही होता है। इसमें वस्तु सहायक है। यदि सहायक नहीं है तो इन्द्रिय भी अपने स्वरूप को अर्थात् अपने आन्तरिक गुण को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होगी। क्योंकि, कोई भी वस्तु बाहरी सहायता के बिना अपने को ग्रहण नहीं कर पाती। जैसे नेत्र अपने भीतर के पदार्थ को नहीं देख सकते, परन्तु, बाहरी पदार्थों को देखने में समर्थ हैं। हाथ से भी बाह्य वस्तु ही पकड़ी जा सकती है, आन्तरिक नहीं। इससे सिद्ध होता है कि बाह्य वस्तु की सहायता के बिना इन्द्रिय अपने विषय को नहीं ग्रहण कर सकतीं।

अब, इस पर शङ्का करते हैं—

न शब्द गुणोपलब्धेः ॥७७॥

सूत्रार्थ—शब्द गुणोपलब्धेः=शब्द गुण की उपलब्धि होने से, उक्त कथन, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—क्योंकि शब्द गुण उपलब्ध होता है, इसलिये यह कहना कि इन्द्रिय अपने आन्तरिक गुण को ग्रहण करने में समर्थ नहीं, अनुचित है। क्योंकि कान को अपने आंतरिक गुण की उपलब्धि होते देखी जाती है। यदि कानों को बन्द करलें तो उसमें स्वयं ही शब्द सुनाई देते हैं। इस प्रकार शब्द की आंतरिक उपलब्धि होने से उपरोक्त कथन असिद्ध हो जाता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्य गुणवैधर्म्यात् ॥७८॥

सूत्रार्थ—इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात्=द्रव्यत्व में पारस्परिक विपरीत लक्षण होने से, तदुपलब्धिः=शब्द की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—पृथिवी आदि द्रव्यत्व में गन्ध आदि विशेष गुणों की उपलब्धि होती है। परन्तु, उन गुणों के धर्मों में विपरीतता है। अन्य गुणों की उपलब्धि सहायक वस्तु के अभाव में नहीं होती, परन्तु, शब्द गुण ऐसा है, जो सदा गूँजता रहता है और कान बन्द करने पर सुनाई देता है तो वह उसकी अपनी विशेषता है, उसमें इन्द्रियत्व का कोई दोष नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने गुणों को ग्रहण करना प्रत्यक्ष नहीं है और न ऐसा अनुमान से ही सिद्ध हुआ है। परन्तु, श्रोत्र के द्वारा शब्द का ग्रहण किया जाना अनुमान से सिद्ध है और आकाश को शब्द गुण वाला तो सभी मानते हैं। इसलिये यही सिद्ध होता है कि आकाश श्रोत्रेन्द्रिय का कारण रूप है।

॥ तृतीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निक समाप्तम् ॥

तृतीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥१॥

सूत्रार्थ—कर्माकाशसाधर्म्यात् = कर्म और आकाश के समान धर्मी होने से, संशयः = संदेह होता है।

अब बुद्धि की परीक्षा आरंभ की गई है। बुद्धि नित्य है या अनित्य इसका निरूपण करते हैं। बुद्धि में भी अस्पर्शत्व धर्म, कर्म और आकाश के समान ही है। परन्तु, कर्म और आकाश दोनों में कर्म अनित्य है और आकाश नित्य है। इसमें शङ्का यह है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के समान नित्य ?

अगले सूत्र में बुद्धि का नित्यत्व कहते हैं—

विषय प्रत्यभिज्ञानात् ॥२॥

सूत्रार्थ—विषय = विषयों की, प्रत्यभिज्ञानात् = प्रत्यभिज्ञा होने से बुद्धि को नित्य समझना चाहिये।

व्याख्या—प्रत्यभिज्ञा उसे कहते हैं, जहाँ पहिले कभी देखी हुई वस्तु की याद आने पर कहें कि यह वही वस्तु है जिसे मैंने पहिले देखा था। पहले देखी हुई वस्तु के याद आ जाने से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि नित्य है।

अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं—

साध्य समत्वादहेतुः ॥३॥

सूत्रार्थ—साध्यसमत्वात्=साध्यसम होने से, अहेतुः=उक्त कथन अयुक्त है।

व्याख्या—प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि का लक्षण मानना साध्य होने से ठीक नहीं है। जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञा का बुद्धि-धर्म होना भी साध्य है। एक साध्य की सिद्धि में दूसरे साध्य का दृष्टान्त ही साध्यसम हेत्वाभास है। प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का नहीं, चेतन आत्मा का धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि किसी जाने हुए विषय को आत्मा ही बुद्धि के द्वारा स्मरण कराता है। इसलिये उपरोक्त मान्यता ठीक नहीं है।

न युगपदऽग्रहणात् ॥४॥

सूत्रार्थ—युगपत्=एक साथ ही, अग्रहणात्=ग्रहण न होने से, न=वृत्ति और वृत्तिमान का एक होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यदि वृत्ति और वृत्तिमान का एक होना मानें तो वृत्तिमान की स्थिति से वृत्ति का स्थिर होना भी मानना होगा। यदि वृत्ति स्थिर होगी तो एक समय में ही अनेक विषयों का ज्ञान हो जायगा। परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान में भेद मानना सिद्ध होता है।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाश प्रसङ्गः ।।५।।

सूत्रार्थ—अप्रत्यभिज्ञाने=प्रत्यभिज्ञा के न होने पर, विनाश प्रसंगः=वृत्तिमान के नष्ट होने का प्रसङ्ग, च=भी उपस्थित होगा ।

व्याख्या—यदि प्रत्यभिज्ञा को न मानेंगे तो वृत्तिमान का मानना भी असङ्गत होगा । इससे सिद्ध हुआ कि वृत्ति और वृत्तिमान में कोई भेद नहीं है । अगले सूत्र में एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहेंगे ।

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ।।६।।

सूत्रार्थ—क्रमवृत्तित्वात्=क्रम वृत्ति होने से, अयुग पद ग्रहणम्=युग पद ग्रहण नहीं होता ।

व्याख्या—एक देशीय मन का इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक संयोग होता है, इससे एक बार अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती । और एक बार में अनेक ज्ञान न होने से वृत्तिमान में भेद होना सिद्ध होता है ।

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यास संगात् ।।७।।

सूत्रार्थ—च = और, विषयान्तरव्यास संगात्=विषयान्तर के संयोग से, अप्रत्यभिज्ञानम्=प्रत्यभिज्ञा नहीं ।

व्याख्या—जब मन किसी विषय में आसक्त होता है, तब उस विषय के अतिरिक्त, किसी अन्य विषय का ज्ञान नहीं होता । इससे भी वृत्ति और वृत्तिमान का भेद सिद्ध होता है ।

न गत्यऽभावात् ।।८।।

सूत्रार्थ—गत्यऽभावात्=गति के अभाव से, न=विभुपद के अर्थ में युग पद का ग्रहण न होना सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—यदि मन को विभु मानें तो उससे गति का न होना मानना होगा। जब गति न होगी तो मन का इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक संयोग भी न हो सकेगा। यदि संयोग न होगा तो एक समय में अनेक ज्ञान होना भी नहीं रुक सकता। परन्तु, ऐसा नहीं देखा जाता इसलिये मन को विभु नहीं मान सकते।

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तन्यत्वाभिमानः ॥९॥

सूत्रार्थ—स्फटिकः=स्फटिक में, अन्यत्वाभिमानवत्= अन्यत्व के अभिमान के समान, अन्यत्वाभिमानः=उसमें भी अन्यत्व का अभिमान दिखाई देता है।

व्याख्या—जैसे स्फटिक मणि पर लाल रंग की छाया पड़े तो, वह भी लाल दिखाई देती है, वैसे ही विभिन्न विषयों के संयोग से मन भी विभिन्न प्रकार का होता दिखाई देता है। यथार्थ में मन विभु नहीं, एकदेशीय ही है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

न हेत्वभावात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—हेत्वभावात्=हेतु का अभाव होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है

व्याख्या—स्फटिक के दृष्टांत में हेतु का अभाव है, इसलिये उसे ठीक नहीं कह सकते। क्योंकि, वृत्तियों में अन्यत्व का अभिमान भ्रम से नहीं है, किन्तु, जैसे गंध आदि गुणों के समान उनके ज्ञान की उपलब्धि अलग-अलग होती है तो इससे गंधादि गुणों की भिन्नता के समान ज्ञान की भिन्नता भी क्यों न मानलें ? यदि कहें कि दोनों के दृष्टान्त में हेतु का अभाव समान रूप से है तो ऐसा नहीं मान सकते। क्योंकि, इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से क्रमपूर्वक ज्ञान उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। इसलिये वृत्तियों के अनेक होने में गंध आदि गुणों का उदाहरण अनुचित नहीं है।

स्फटिकऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ॥११॥

सूत्रार्थ—क्षणिकत्वात् व्यक्तीनाम=व्यक्तियों के क्षणिक होने से, स्फटिकऽप्यपरापरोत्पत्तेः=स्फटिक में भी पर और अपर की उत्पत्ति से, अहेतुः=यह हेतु अयुक्त है।

व्याख्या—स्फटिक में वस्तु और रंग के भेद से अनेकत्व की भ्रांति कही गई, क्योंकि, स्फटिक अपने यथार्थ रूप में अवस्थित है। इस पर शङ्का की जाती है कि सब व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी कोई व्यक्ति उत्पन्न होता है और कोई नष्ट होता है। सभी वस्तुओं का क्षणिक होना वस्तुओं के घटने-बढ़ने और शरीरों के संयोग-वियोग तथा आहार के पचने और विरेचन आदि से सिद्ध होता है।

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥१२॥

सूत्रार्थ—नियमहेत्वभावात्=नियामक हेतु के अभाव से, यथादर्शनमभ्यनुज्ञा=जैसा दिखाई दे वैसा माने।

व्याख्या - ज्ञान में भेद मानना ठीक है, परन्तु स्फटिक का क्षणिकता के आधार पर खण्डन करना उचित नहीं। क्योंकि, सभी वस्तुओं मे घटने-बढ़ने सम्बन्धी नियम में समानता नहीं देखी जाती।

अब इसका निराकरण करते हैं।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥१३॥

सूत्रार्थ—उत्पत्ति विनाशकारणोपलब्धेः=उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि, न=न मिलने से उपरोक्त कथन युक्तिसंगत नहीं बैठता।

व्याख्या—जैसे वृद्धि उत्पत्ति का कारण और क्षय विनाश का कारण समझा जाता है और देह आदि के उत्पन्न होने और नष्ट होने के

कारण उपलब्ध होते हैं, वैसे स्फटिक आदि में उत्पत्ति और विनाश के कारण दिखाई न देने से उन्हें शरीर आदि के समान क्षणिक कहना उपयुक्त नहीं है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

क्षीरविनाशेकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ॥१४॥

सूत्रार्थ—क्षीर विनाशे=दूध के नष्ट होने पर, कारणानुपलब्धिवत्=कारण कीउपलब्धि न होने के समान,च=तथा, दध्युत्पत्तिवत्=दही की उत्पत्ति के समान, तदुपपत्तिः=उसकी सिद्धि मानना उचित है।

व्याख्या—जैसे दूध से दही बनता है, तब उसके 'कारण दूध का नाश हो जाता है। यद्यपि दूध के नष्ट होने का कारण दही के उत्पन्न होने का कारण मालुम नहीं होता, फिर भी दही की उत्पत्ति और दूध का नाश होना मानते ही हैं। इसी प्रकार स्फटिक में भी कारण का ज्ञान हुए बिना ही पूर्व व्यक्ति का नाश और बाद के व्यक्ति की उत्पत्ति माननी चाहिये।

अगले सूत्र में इसका उत्तर देंगे—

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—लिङ्गतो=लिङ्ग से, ग्रहणात्=ग्रहण होने के कारण, अनुपलब्धिः=उपलब्धि नहीं है।

व्याख्या—दूध का नष्ट होना और दही का उत्पन्न होना यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसलिये, इसके कारण का अनुमान कर सकते हैं। परन्तु, स्फटिक में पूर्व व्यक्ति का नाश और दूसरे व्यक्ति की उत्पत्ति का कोई लक्षण नहीं मिलता तो इसका अनुमान कैसे होगा? इसलिये

दूध-दही का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अगले सूत्र में इस पर पुनः शंका करते हैं—

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—पयसः=दूध के, परिणाम गुणान्तरः=परिणाम में गुण का अन्तर, प्रादुर्भावात्=उत्पन्न होने से उक्त मान्यता, न=युक्ति-संगत सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—दूध का परिणाम दही है। परन्तु, परिणाम होने से पदार्थ का नाश नहीं होता, केवल रूप-परिवर्तन हो जाता है। इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पर्वद्रव्य-निवृत्तेरनुमानम् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—व्यूहान्तरात्=व्यूह के अन्तर से, द्रव्यान्तरोत्पत्ति द्रव्य में अन्तर की उत्पत्ति का, दर्शनम्=दिखाई देना, पूर्वद्रव्य-निवृत्तेः=पूर्व द्रव्य की निवृत्ति का, अनुमानम्=अनुमान कराता है।

व्याख्या— जिन परमाणुओं से पूर्व देह बना, उनके निकलने पर, अन्य परमाणुओं का उनके स्थान में आ जाना एक प्रकार का नाश और उत्पत्ति ही समझी जायगी। इसी प्रकार दूध का नाश और दही की उत्पत्ति सिद्ध होती है। इससे परिणाम को उत्पत्ति और विनाश में बाधक नहीं कह सकते।

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चो-पलब्धेरनेकान्तः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—क्वचित्-विनाश कारणानुपलब्धेः=कहीं विनाश

कारण के उपलब्ध न होने और, क्वचिच्चोपलब्धेः=कहीं उपलब्ध होने से, अनेकान्तः=अनेकान्त है।

व्याख्या—कहीं तो विनाश के कारण का ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है और कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे घड़े में ईंट मार दें तो घड़ा फूट जाता है, इसमें नाश का कारण ईंट मारना प्रत्यक्ष है। परन्तु, दूध का दही बनने पर नाश का कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये, नाश को सिद्ध करने के लिये दूध दही का उदाहरण यहाँ अनेकान्त अर्थात् दोष रूप है।

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—ज्ञानावस्थानात्=ज्ञान की अवस्थिति होने से, इन्द्रियार्थयोः=इन्द्रिय और उसके विषय का गुण, तद् विनाशे=नष्ट होने पर, अपि=भी, न=नहीं रहता।

व्याख्या—ज्ञान इन्द्रिय का गुण नहीं है और न उसके विषय का ही गुण है। क्योंकि, इन्द्रिय और विषयों के नष्ट होने पर भी ज्ञान विद्यमान रहता है। जैसे कोई व्यक्ति नेत्र हीन हो जाय तो उसे देखे हुए विषय की याद रहती ही है। अगले सूत्र में ज्ञान के मन का गुण होने का निषेध करते हैं—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः=एक समय में अनेक ज्ञान की उपलब्धि न होना, च=भी, यही सिद्ध करता है कि ज्ञान, मनसः=मन का गुण नहीं है।

व्याख्या—एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने से ज्ञान को मन का गुण होना भी नहीं कह सकते। यदि मन का गुण होता तो एक समय में ही अनेक ज्ञानों का अनुभव होना चाहिये था।

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—तदात्मगुणत्वे=उसके आत्मा का गुण होने पर, अपि=भी, तुल्यम्=दोष में समानता है।

व्याख्या—यदि ज्ञान को आत्मा का गुण मानें तो भी नहीं मान सकते। क्योंकि, आत्मा तो सभी इन्द्रियों में व्याप्त है, इसलिये वैसा मानने पर भी एक समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होनी चाहिये थी। परन्तु, ऐसा न होने से इसमें भी दोष प्रसंग आता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियैः=इन्द्रियों का, मनसः=मन के साथ, सन्निकर्ष=संयोग का, अभावात्=अभाव होने से, तदनुत्पत्तिः =उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

व्याख्या—जैसे गंध आदि गुण का ज्ञान इन्द्रिय और उसके विषय का संयोग होने पर होता है। वैसे ही विषय का ज्ञान कराने में इन्द्रिय और मन का संयोग भी आवश्यक है। ऐसा न होने पर किसी भी विषय का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

नोत्पत्तिकारणानुपदेशात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—उत्पत्तिकारण=उत्पत्ति का कारण, अनुपदेशात् =न कहा जाने से, न=उक्त हेतु नहीं बनता।

व्याख्या—ज्ञान की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं कहा, इसलिये उक्त मान्यता ठीक नहीं। मन और इन्द्रिय का संयोग ज्ञान के उत्पन्न होने में निमित्त है, उपादान कारण नहीं है।

विनाश कारणानुपलब्धेश्चावस्थानेतन्नित्यत्व प्रसंगः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—विनाश कारणानुपलब्धेः=विनाश कारण के न मिलने से, च=भी, अवस्थाने=स्थित होने पर, तन्नित्यत्वप्रसंगः =उसके नित्य होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

व्याख्या—आत्मा नित्य है, ज्ञान आत्मा का गुण है तो वह भी नित्य ही होगा और आत्मा के समान ही उसका भी सदा अवस्थित्त रहना स्वीकार करना पड़ेगा।

अनित्यत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—बुद्धेः=बुद्धि के, अनित्यत्वात्=अनित्य होने से, बुद्ध्यन्तरात्=बुद्धि का अन्तर होने से उसका, शब्दवत्=शब्द के समान, विनाशः=विनाश माना जाता है।

व्याख्या—बुद्धि अनित्य है, क्योंकि शब्द के ही समान बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश के कारण देखे जाते हैं। जैसे पहले कहा हुआ शब्द नष्ट होकर दूसरा शब्द उत्पन्न होता है, वैसे ही पहला ज्ञान नष्ट होने पर दूसरे की उपलब्धि होती है। अब इस पर आक्षेप करते हैं—

ज्ञान समवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न-युगपदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशः=आत्म प्रदेश के साथ ज्ञान युक्त, सन्निकर्षात्=संयोग से, मनसः=मन के द्वारा, स्मृत्युत्पत्तेः=स्मृति की उत्पत्ति होती है और, युगपदुत्पत्तिः=एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति, न=नहीं होती।

व्याख्या—ज्ञान के संस्कारयुक्त आत्मा के प्रदेशों के साथ मन का संयोग होने पर स्मृति उत्पन्न होती है, इसीलिये एक साथ अनेक ज्ञानों की उपलब्धि नहीं हो पाती।

अब इस पर शंका करते हैं—

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—मनसः=मन के, अन्तः शरीर वृत्तित्वात्=भीतरी वृत्ति वाला होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—मन इस शरीर के भीतर रमण करता है, इसलिये बाह्य विषय ज्ञान का आत्म-प्रदेशों के साथ संयोग कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इस पर शंका करते हैं—

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—साध्यत्वात्=साध्य होने से भी, अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—मन शरीर के अन्तर में रमण करने वाला है, पहले यह बात सिद्ध हो तभी उस हेतु को मान सकते हैं।

इसका समाधान यह है—

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—स्मरतः=स्मरण करने वाले का, शरीरधारणोपपत्तेः=शरीर में धारण करना मिलने से, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—स्मरण करने वाला जब किसी बात को याद करता है तो वह ठहरता-सा याद करने लगता है और उसका शरीर स्तब्ध-सा हो जाता है। इससे मन का शरीर के भीतर स्थित होना सिद्ध होने से इस बात का निषेध नहीं हो सकता। इस पर पुनः आक्षेप करते हैं—

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—तद्-आशुगतित्वात् मनसः=मनके अत्यन्त शीघ्र गति वाला होने से, न=दोष प्रसंग नहीं आता।

व्याख्या—मन अत्यन्त शीघ्रगामी है, इसलिये वह बाहर भीतर दोनों स्थानों पर हो सकता है। इसलिये मन के शरीर में भ्रमण करने वाले सिद्धान्त का निषेध करने में कोई दोष नहीं आता।

अगले सूत्र में इसका पुनः समाधान करते हैं—

न स्मरणकालाऽनियमात् ॥३१॥

सूत्रार्थ—स्मरणकालाऽनियमात्=स्मरण काल के नियत न होने से, न=उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—कोई बात जल्दी याद की जाती है, कोई देर से की जाती है, उसका समय निश्चित नहीं है। अनेक विषयों में ऐसा भी होता है कि लगा हुआ मन उन विषयों को याद नहीं कर पाता। यदि वह बहिर्गामी होता तो याद करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं है।

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोग विशेषः ॥३२॥

सूत्रार्थ- आत्म प्रेरण=आत्मा की प्रेरणा, च=अथवा, यदृच्छाज्ञताभिः=अकस्मात् ज्ञान से, संयोग विशेषः=संयोग विशेष, न=नहीं हो सकता।

व्याख्या—आत्मा की प्रेरणा या आकस्मिक ज्ञान से संयोग की विशेषता नहीं होगी। क्योंकि, या तो आत्मा स्वेच्छा से शरीर के बाहर वाले मन से संयोग करे, या अकस्मात् संयोग हो जाय, अथवा मन स्वयं ही ज्ञाता हो। परन्तु, प्रेरणा से पहिले ही स्मृति हो जाय तो वह स्मृति नहीं कही जा सकती, आकस्मिक भी नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा करने पर ही स्मरण होगा, और मन को ज्ञाता भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अचेतन और ज्ञान-रहित है। इसका निराकरण यह है।

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—व्यासक्तमनसः=मन के अन्यत्र लगे होने पर, पादव्यथनेन=पाँव में काँटा चुभ जाये तो उसे, संयोगविशेषेण=संयोग विशेष के, समानम्=समान समझना चाहिये।

व्याख्या—मन किसी विचार में मग्न हो, उस समय पाँव में काँटा चुभे तो उसे तुरन्त दुःख का ज्ञान होता है। इससे मन और आत्मा के संयोग की विशेषता सिद्ध होती है।

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावाद् युगपदऽस्मरणम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—प्रणिधान=चित्त की एकाग्रता और, लिङ्गादिज्ञानानाम्=लिंग आदि ज्ञानों के, युगपद्भावात्=एक साथ न होने से, युगपदऽस्मरणम्=एक समय में ज्ञान नहीं होते।

व्याख्या—आत्मा और मन का संयोग स्मृति के कारण होता है, उसी प्रकार चित्त की एकाग्रता और लक्षण आदि का ज्ञान भी कारण है। परन्तु, वे ज्ञान एक साथ नहीं होते, इसलिये स्मृतियाँ भी एक साथ नहीं हो सकतीं।

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसंगः ॥३५॥

सूत्रार्थ—प्रातिभवत्=प्रातिभ ज्ञान के समान, प्रणिधानाद्यनपेक्षे=जिसमें चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा नहीं है, उस, स्मार्त्ते=स्मार्त्त ज्ञान में, तु=तो, यौगपद्यप्रसंगः=एक साथ अनेक ज्ञान का प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या—बुद्धि की स्फूर्ति को प्रतिभा कहते हैं, उससे उत्पन्न ज्ञान 'प्रातिभ' है। इसकी उत्पत्ति अकस्मात् हो जाती है। इसी प्रकार जिस ज्ञान में समाधान आदि की अपेक्षा नहीं, उसके आकस्मिक होने से तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का दोष आ जायगा।

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥३६॥

सूत्रार्थ—ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वात्=ज्ञाता की इच्छा और

व्याख्या—कुठार आदि के समान कुम्भ आदि में भी ऐसा ही देखा जाता है। इसलिये भी उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता। अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥४०॥

सूत्रार्थ—तद्विशेषकौ = इच्छा और द्वेष के भेद, तु = तो, नियमानियमौ = नियम और अनियम हैं।

व्याख्या—नियम और अनियम से इच्छा और द्वेष का भेद सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि इच्छा, द्वेष, सम्बन्ध और असम्बन्ध से ही चेतन और अचेतन का भेद जाना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि इच्छा द्वेष से ही शरीर में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, इसलिये यह दोनों आत्मा के गुण हैं।

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥४१॥

सूत्रार्थ—यथोक्तहेतुत्वात् = उक्त हेतु के होने से, च = तथा, पारतन्त्र्यात् = मन के परतन्त्र होने से, और, अकृताभ्यागमात् = अकृत कर्म की प्राप्ति से इच्छा आदि, मनसः = मन के धर्म, न = नहीं है।

व्याख्या—ऊपर जो हेतु दिया है, उससे, मन के परतन्त्र होने और बिना कर्म के ही प्राप्ति होने से भी इच्छा आदि को मन के धर्म नहीं मान सकते। इस सूत्र में 'मन' पद से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ही ग्रहण होता है।

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥४२॥

सूत्रार्थ—परिशेषादि = परिशेष आदि, यथोक्तहेतुः =

यथोक्त हेतुओं की, उपपत्तेश्च:=उपपत्ति होने से भी इच्छा आदि आत्मा के ही धर्म सिद्ध होते हैं।

व्याख्या—मन, इन्द्रिय और शरीर अचेतन हैं, इसलिये इच्छा आदि उनके धर्म नहीं हो सकते। क्योंकि, जो वस्तु स्वयं जड़ है, उसमें इच्छा आदि की प्रवृत्ति कहाँ से आई ? अत: इच्छा आदि आत्मा के धर्म हैं, यही मानना ठीक है।

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात् ॥४३॥

सूत्रार्थ—आत्मनोज्ञस्वाभाव्यात्=आत्मा का ज्ञातारूप स्वभाव होने से, स्मरणन्त्व=स्मरण भी उसी का धर्म है।

व्याख्या—जानना ज्ञाता का स्वभाव है और ज्ञाता आत्मा ही है। इसलिये स्मरण करना भी आत्मा का ही धर्म है। क्योंकि स्मृति चेतन आत्मा में ही उत्पन्न हो सकती है, जड़ में नहीं।

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिंगलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधान सुखदु:खेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥४४॥

सूत्रार्थ—प्रणिधानादि=प्रणिधान निबन्ध, अभ्यास, लिंग, लक्षण, सादृश्य, परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एक कार्य, विरोध, अतिशय, प्राप्ति, व्यवधान सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, भय, आर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म, अधर्म यह सब स्मृति के कारण हैं।

व्याख्या—प्रणिधान अर्थात् मन को किसी एक विषय में लगा देना, निबन्ध अर्थात् अनेक अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना,

लिङ्ग अर्थात् धूप को देखने से अग्नि का स्मरण करना लक्षण, सादृश्य आदि २७ कारणों से स्मृति की उत्पत्ति होती है।

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—अनवस्थायि=अनवस्थायी, कर्मः=कर्म के, ग्रहणात्=ग्रहण से भी बुद्धि का उत्पन्न होना और नष्ट होना पाया जाता है।

व्याख्या—प्रत्येक विषय के लिये बुद्धि नियत है, जिस विषय का सम्बन्ध जब तक बुद्धि के साथ रहेगा, तभी तक उस विषय की स्मृति रहेगी, बाद में नहीं। इसलिये बुद्धि का अनित्यत्व सिद्ध है।

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यऽभावः ॥४६॥

सूत्रार्थ—बुद्ध्यवस्थानात्=बुद्धि के अवस्थित रहने से, प्रत्यक्षत्वे=प्रत्यक्ष होने पर, स्मृत्यऽभावः=स्मृति का अभाव मिलता है।

व्याख्या—यदि बुद्धि को स्थिर मानें तो सभी देखे गये पदार्थ प्रत्यक्ष रहने चाहिये और जब वे पदार्थ प्रत्यक्ष रहेंगे तो स्मृति किस वस्तु की होगी। इससे भी बुद्धि का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाऽव्यक्तग्रहणवत् ॥४७॥

सूत्रार्थ—अनवस्थायित्वात्=अनवस्थायी होने से, विद्युत्सम्पाते=बिजली गिरने पर, रूपाऽव्यक्त ग्रहणवत्=उसका अस्पष्ट रूप ग्रहण किये जाने के समान, अव्यक्तग्रहणम्=ज्ञेय का अस्पष्ट ग्रहण होता है।

व्याख्या—यदि बुद्धि को उत्पन्न और नष्ट होने वाली मानें तो उससे ज्ञेय का स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं होगा। जैसे विद्युत गिरने के

समय अस्थिर प्रकाश से रूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, वैसे ही बुद्धि के अस्थिर होने पर किसी भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा ॥४८॥

सूत्रार्थ—हेतूपादानात्=हेतु के उपादान से, प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा=प्रतिषेध अर्थ का अङ्गीकार है।

व्याख्या—विद्युत के दृष्टान्त रूप हेतु से ही बुद्धि की अस्थिरता सिद्ध हो गई। क्योंकि बिजली की अस्थायी चमक से बिजली की ही अस्थिरता सिद्ध होती है। इस प्रकार प्रतिवादी के हेतु से ही बुद्धि का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता।

प्रदीपार्च्चिः सन्तत्यऽभिव्यक्त ग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥४६॥

सूत्रार्थ—प्रदीपार्च्चिः=दीपक की ज्योति, सन्तत्यऽभिव्यक्त ग्रहणवत्=लगातार स्पष्ट ग्रहण के समान, तद्ग्रहणम्=उसका भी ग्रहण होता है।

व्याख्या—यदि बिजली की अस्थिरता वाली उपमा को छोड़ दें, तो दीपक के समान व्यक्त रूप मानने पर भी स्थिर होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, दीपक की लौ लगातार उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है, वैसे ही बुद्धि को समझना चाहिये।

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥५०॥

सूत्रार्थ—द्रव्ये=द्रव्य में, स्वगुण परगुणोपलब्धेः=स्वगुण और परगुण की उपलब्धि होने से, संशयः=इसमें संदेह होता है।

व्याख्या—द्रव्य में स्वगुण और पराये गुण दोनों ही मिलते हैं। जैसे जल द्रव्य है, उसमें जल का गुण रसत्व तो मिलता ही है, परन्तु,

यदि वह उष्ण हो तो उसमें उष्णता अग्नि का गुण होगा । इस प्रकार पाये जाने से, शरीर में जो चेतन आत्मा है, वह अपना गुण है या पराया, यह शंका होती है ।

इसका समाधान करते हैं ।

यावच्छरीर भावित्वाद्रूपादीनाम् ॥५१॥

सूत्रार्थ—यावच्छरीर भावित्वाद्=जब तक शरीर का अस्तित्व तब तक, रूपादीनाम्=रूप आदि की उपलब्धि होती है ।

व्याख्या—जब तक शरीर है, तब तक रूप आदि की उपलब्धि है । शरीर नहीं रहता, तब रूप भी नहीं रहता । इससे चेतनत्व शरीर का गुण नहीं है ।

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥५२॥

सूत्रार्थ—पाकज गुणान्तरोत्पत्तेः=पके हुए से गुणों के अन्तर की उपलब्धि होने से उपरोक्त कथन, न=ठीक नहीं है ।

व्याख्या—पाक से उत्पन्न अन्य गुण की उत्पत्ति पायी जाने से उक्त धारणा उचित नहीं । क्योंकि, पकाने पर वस्तु का रंग बदल जाता है । अथवा जो गुण पकाने से पहिले होते हैं, उन गुणों में पकाने के बाद अन्तर पड़ जाता है । इसी प्रकार शरीर में भी जैसे-जैसे परिपक्वता आती जाती है, चेतनता बढ़ती जाती है ।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे ।

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥५३॥

सूत्रार्थ—प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः=विरोधी गुणों की सिद्धि होने पर, पाकजानाम्=पाकजों का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—पकने पर जो गुण उत्पन्न होते हैं, वह पहले गुणों से भिन्न होते हैं। जो गुण बीज में होता है, वह पके हुए फलों में नहीं होता। अग्नि पर पकाने से भी विटामिनी-तत्व नष्ट हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्व गुणों से पाकज गुण मिलते नहीं। परन्तु शरीर में तो चेतनता का विरोधी कोई गुण है नहीं और चेतनता भी शरीर का गुण नहीं है। क्योंकि मरने पर शरीर तो रहता है, परन्तु चेतनता चली जाती है।

शरीरव्यापित्वात् ॥५४॥

सूत्रार्थ—शरीरव्यापित्वात्=शरीरव्यापी होने से भी चेतनता शरीर का गुण नहीं है, यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—चेतनता शरीर भर में व्याप्त रहती है। यदि कहें कि शरीर के प्रत्येक भाग में अलग-अलग चेतनता है तो ऐसा मानने से एक शरीर में अनेक चेतन होने से, उनका ज्ञान भी अलग-अलग होगा। परन्तु, ऐसा न होने से चेतनता को शरीर का धर्म नहीं मान सकते।

अगले सूत्र में इसका विरोध करते हैं।

केश नखादिष्वनुपलब्धेः ॥५५॥

सूत्रार्थ - केशनखादिषु=बालों और नाखूनों में, अनुपलब्धेः=चेतनता की उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या—चेतनता को शरीर भर में व्याप्त कहना मिथ्या है। क्योंकि बाल और नख में चेतनता है ही नहीं।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे।

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखाद्यप्रसङ्गः ॥५६॥

सूत्रार्थ—शरीरस्य=शरीर के, त्वक्पर्यन्तत्वात्=त्वचा

तक होने से, केशनखाषु=बाल और नाखूनों का, अप्रसङ्गः=प्रसंग ही नहीं है।

व्याख्या—शरीर में त्वचा तक ही आती है, बाल और नाखून शरीर मे नहीं आते। क्योंकि चेष्टा और इन्द्रियों के आश्रय को शरीर कहा है। बाल और नख में न तो चेष्टा है और न यह कोई इन्द्रिय ही हैं। इसलिये इन्हें शरीर के अन्तर्गत मानना ठीक नहीं।

शरीर गुणवैधर्म्यात् ॥५७॥

सूत्रार्थ—शरीरगुण=शरीर गुणों के साथ, वैधर्म्यात्=विरूपता होने से भी यही मानना उचित है।

व्याख्या—शरीर के गुण दो प्रकार के हैं—एक तो रूप आदि जो दिखाई पड़ते हैं और दूसरे गुरुत्व, चेतनता आदि जो दिखाई नहीं देते। यह दोनों प्रकार के गुण परस्पर विपरीत लक्षण वाले हैं। इसलिये चेतन को शरीर का गुण नहीं मान सकते।

न रूपादिनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥५८॥

सूत्रार्थ—रूपादिनाम्=रूप आदि का, इतरेतर=पारस्परिक, वैधर्म्यात्=विरुद्ध लक्षण होने से भी शरीर का गुण चेतन को नहीं मान सकते।

व्याख्या—यह कथन कि मनुष्य में पाई जाने वाली चेतना शरीर के रूप आदि गुणों से भिन्न है इसलिये उसे शारीरिक गुण नहीं माना जा सकता, ठीक नहीं है। शरीर का वर्ण, सौन्दर्य, वजन भी परस्पर भिन्न हैं, फिर भी उनको एक ही शरीर के गुण माना जाता है। तब यदि चेतना को भी भिन्नता होते हुये अन्य गुणों की तरह शरीर का गुण मान लिया जाय तो इसमें क्या आपत्ति है? आगे इसका समाधान करते हैं।

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥५६॥

सूत्रार्थ—ऐन्द्रियकत्वात्=इन्द्रियों से ग्रहणीय होने से, रूपादीनाम्=रूप आदि का शरीर के गुण होने का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं हो सकता।

व्याख्या—शरीर के सभी गुण इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं। एक ही शरीर में रहने और इन्द्रियों में ग्रहण किये जाने से रूप आदि सजातीय गुण हैं, इसलिये वही शरीर के गुण हो सकते हैं। चेतनता शरीर का गुण नहीं है।

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥६०॥

सूत्रार्थ—ज्ञानायौगपद्यात्=ज्ञानों के एक काल में न होने से, एकंमनः=मन एक ही है।

व्याख्या—एक समय में अनेक ज्ञानों की उपलब्धि नहीं पायी जाती। इससे सिद्ध होता है कि मन एक ही है। यदि मन अनेक होते तो एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते। परन्तु, ऐसा न होने से मन का एक होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ—युगपद्=एक समय में, अनेक क्रियोपलब्धेः=अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—एक साथ अनेक ज्ञान ही नहीं, अनेक क्रियायें भी होती देखते हैं। एक पुरुष रास्ते में चलता हुआ समाचार पत्र पढ़ता है, शब्द सुनता, लोगों से बात करता है। तिराहा या चौराहा आने पर, 'किधर चलना है' यह भी सोचता है। इस प्रकार अनेक विचार और क्रियायें एक साथ करता है। इससे मन को एक बताना ठीक नहीं है।

अब इसका समाधान करते हैं—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥६२॥

सूत्रार्थ—अलात चक्र=आतिशबाजी की चर्खी के, दर्शन-वत्=देखने के समान, आशुसंचारात्=द्रुतवेग से चलने जैसी, तदुपलब्धिः=उसकी प्राप्ति है।

व्याख्या—जैसे बहुत तेजी से चलने वाली आतिशबाजी की चर्खी क्रम-पूर्वक चलती हुई भी, अपनी शीघ्र गति के कारण एक साथ घूमती-सी दिखाई देती है और उसका क्रमपूर्वक चलना नहीं जाना जाता, वैसे ही मन के भी शीघ्रगामी होने से उसका क्रम दिखाई नहीं देता। इससे यही मानना ठीक है कि सब कार्य क्रमपूर्वक होते हैं, एक साथ नहीं होते।

यथोक्त हेतुत्वाच्चाणु ॥६३॥

सूत्रार्थ—यथोक्त हेतुत्वात्=उक्त हेतु होने से, च=भी, अणु=मन का अणु होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—एक समय में अनेक ज्ञान न होने से, यह भी सिद्ध होता है कि मन व्यापक नहीं, अणु है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥६४॥

सूत्रार्थ—पूर्व=पूर्व जन्म में, कृत=किये कर्म के, फलानु-बन्धात्=फलों के अनुबन्ध से, तदुत्पत्तिः=उस शरीर की उत्पत्ति है।

व्याख्या—पूर्व जन्म में जो कर्म किये जाते हैं, उनके धर्म-अधर्म रूप संस्कारों की प्रेरणा से इस शरीर की उत्पत्ति होती है। क्योंकि शरीर प्राप्त करते ही भोग का आरम्भ हो जाता है, जो बिना निमित्त के हो नहीं सकता। इससे पंचभूतों को इसका उपादान कारण समझना चाहिये, निमित्त कारण नहीं।

इस पर शङ्का करते हैं

भूतेभ्योमूर्त्युपादानवत्तदुत्पत्तिः ॥६५॥

सूत्रार्थ—भूतेभ्यो=भूतों की, मूर्ति=मूर्ति से, उपादानवत्=उत्पन्न होने के समान, तदुत्पत्तिः=उसकी उत्पत्ति है।

व्याख्या—जैसे, भूतों से कर्म निरपेक्ष मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा इन पदार्थों की मूर्तियाँ बनती हैं, वैसे ही शरीर भी उन्हीं भूतों से बन सकता है? तब शरीर को कर्म-फल से उत्पन्न मानने की आवश्यकता ही क्या है?

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न साध्यसमत्वात् ॥६६॥

सूत्रार्थ—साध्यसमत्वात्=साध्यसम होने से, न=उक्त दृष्टांत युक्ति-सगत नहीं है।

व्याख्या—जैसे कर्म के बिना शरीर की उत्पत्ति साध्य है, वैसे ही कर्म निरपेक्ष मिट्टी पत्थर आदि की उत्पत्ति साध्य है। इसलिये साध्यसम होने से उक्त दृष्टांत ठीक नहीं है।

इस पर फिर आक्षेप करते हैं—

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥६७॥

सूत्रार्थ—मातापित्रोः=माता-पिता के, निमित्तत्वात्=निमित्त होने से, उत्पत्तिः=शरीर का उत्पन्न होना, कर्म निमित्त, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—माता-पिता के रज-वीर्य से शरीर की उत्पत्ति होती है तो कर्म को निमित्त मानने की क्या आवश्यकता है?

तथाऽऽहारस्य ॥६८॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, आहारस्य=आहार के द्वारा होने से भी कर्म निमित्त नहीं हो सकता।

व्याख्या—माता-पिता का आहार भी उत्पत्ति का कारण है। इसलिए कर्म को उत्पत्ति का कारण मानना निरर्थक है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

प्राप्तौ चानियमात् ॥६९॥

सूत्रार्थ—प्राप्तौ=प्राप्ति में, च=भी, अनियमात्=नियम न होने उक्त कथन मान्य नहीं है।

व्याख्या—यदि रज, वीर्य और आहार को उत्पत्ति का कारण मानें तो स्त्री-पुरुष का प्रत्येक संयोग गर्भाधान का कारण हो जाता। परन्तु ऐसा न होने से प्रारब्ध कर्म को ही इसका कारण मानना ठीक है।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥७०॥

सूत्रार्थ—शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्=शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म होने के समान, संयोगोत्पत्तिनिमित्तम्=संयोग की उत्पत्ति का निमित्त, कर्म=कर्म है।

व्याख्या—शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है, उसी प्रकार संयोग को उत्पन्न करने वाला भी कर्म ही है।

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥७१॥

सूत्रार्थ—ऐतेन=इससे, अनियमः=अनियम का, प्रत्युक्तः=खण्डन होता है।

व्याख्या—सृष्टि की रचना में नियम देखा जाता है। यदि इसका रचयिता कोई चेतन न होता तो चाहे जिसकी उत्पत्ति चाहे जिससे हो जाती। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टि-रचना में अनियम नहीं है।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥७२॥

सूत्रार्थ—कर्मक्षयोपपत्तेः=कर्मक्षय की उत्पत्ति होने से, उपपन्नश्च-तद्वियोगः=आत्मा का शरीर से वियोग होता है।

व्याख्या—कर्म के नाश हो जाने पर शरीर से आत्मा निकल जाता है। अर्थात् जब भोगते-भोगते कर्म शेष नहीं रहते तब उनका क्षय माना जाता है और आत्मा शरीर को त्याग देता है।

इस पर शङ्का करते है—

तददृष्टकारितमिति चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥७३॥

सूत्रार्थ—तददृष्टकारितमिति=उसको अदृष्ट-कारित मानने से, चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे=मोक्ष में भी उसका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या—शरीर की उत्पत्ति का कारण अदृष्ट को मानें तो मुक्तात्माओं के शरीर की भी उत्पत्ति माननी होगी। इससे मुक्त-बद्ध आत्माओं में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥७४॥

सूत्रार्थ—करणाकरणयोः=करण और अकरण की, आरम्भदर्शनात्=उत्पत्ति देखी जाने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—बद्ध आत्मा कर्म करता है, मुक्तात्मा नहीं करता इस प्रकार करना और न करना दोनों ही देखे जाते हैं, तब तत्व ज्ञान

की उपलब्धि पर कर्म का त्याग करने से मुक्तात्मा बन्धन में नहीं पड़ सकता। इसलिये उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥७५॥

सूत्रार्थ—मनः कर्मनिमित्तत्वात्=मन का कर्म के निमित्त होने से, संयोगानुच्छेदः=संयोग का क्रम नहीं टूटता है।

व्याख्या—यदि अदृष्ट कर्म को मन का निमित्त मानें तो संयोग की समाप्ति ही न होगी। अर्थात् शरीर और आत्मा का सम्बन्ध ही न टूटेगा। मन ही शरीर और आत्मा के संयोग का कारण है। परन्तु, मन का इन्द्रियों से संयोग सदा नहीं रह सकता। इससे मन का गुण होना सिद्ध नहीं होता।

नित्यत्वप्रसंगश्च प्रयाणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, प्रयाणानुपपत्तेः=मरण की अनुपपत्ति से, नित्यत्वप्रसंगः=नित्यत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—यदि कर्म के बिना, भूतों से शरीर का उत्पन्न होना मानें तो कर्म के नाश न होने से फिर किसके नाश से शरीर और आत्मा का वियोग होगा? इससे शरीर का नित्य होना सिद्ध होजायगा। इस पर शङ्का करते हैं—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥ ७७ ॥

सूत्रार्थ—अणुश्यामतानित्यत्ववत्=अणु के श्याम होने आदि के समान, एतत्स्यात्=ही यह भी होगा।

व्याख्या—जैसे परमाणुओं में श्यामता नित्य है, परन्तु वह अग्नि के संयोग से नष्ट होजाती है, वैसे ही मुक्तावस्था प्राप्त आत्माओं का उत्पन्न होना नष्ट होजाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त आत्मायें पुनः जन्म-धारण नहीं करतीं।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥७८॥

सूत्रार्थ—अकृताभ्यागमः=अकृताभ्यागम के, प्रसङ्गात्=प्रसङ्ग से, न=उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है।

व्याख्या—परमाणुओं के श्यामत्व का नित्य होने के पक्ष में कोई प्रमाण न होने से, कर्म फल नाश की सिद्धि में उसका दृष्टान्त ठीक नहीं है। यदि इसे ठीक मानें तो बिना कर्म के ही दुःख-सुख रूप फल को मानना होगा। परन्तु, बिना किये फल भोगना कहाँ का न्याय है ? इससे सिद्ध होता है कि बिना किये ही भोग प्राप्ति का प्रसङ्ग अनुमान, प्रमाण और शास्त्र के भी विरुद्ध है। अतः शरीरों की उत्पत्ति में कर्म को ही कारण मानना चाहिये।

॥ तृतीयाध्यायः द्वितीयाह्निक समाप्तः ॥

चतुर्थोऽध्यायः—प्रथमाह्निकः

इस अध्याय में प्रवृत्ति आदि ६ प्रमेयों की परीक्षा करेंगे। पहले, अगले सूत्र में प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—प्रवृत्ति का, यथोक्ता=निरूपण करते हैं।

व्याख्या—मन, वाणी, शरीर से किसी कार्य को आरम्भ करना प्रवृत्ति है। इस सिद्धान्त को सभी मानते हैं।

तथा दोषाः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, दोषाः=दोष हैं।

व्याख्या—जैसे प्रवृत्ति सर्वसम्मत है, वैसे ही उसके दोष भी सर्वसम्मत हैं।

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तत्=उन दोषों में, रागद्वेषमोहार्थातर भावात्=अवान्तर भेद से, राग, द्वेष और मोह, त्रैराश्यम्=यह तीन राशियाँ अर्थात् समूह हैं।

व्याख्या—दोष के तीन भेद हैं—राग, द्वेष और मोह। इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद होने से इन्हें समूह कहते हैं। जैसे राग के अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, दम्भ, लोभ आदि, द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष, अभिमान तथा मोह के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान,

संशय, मान, प्रमाद, भय और शोक आदि हैं। इनमें राग से प्रवृत्ति, द्वेष से क्रोध और मोह से मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥४॥

सूत्रार्थ—एकप्रत्यनीक भावात्=एक के विरोधी होने से रागादि का भिन्न होना, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—एक तत्व-ज्ञान राग, द्वेष और मोह का विरोधी है। इसलिए इनके तीन भेद नहीं माने जा सकते। ऐसा मानें तो इनके प्रतिद्वन्द्वी भी तीन होने चाहिए। परन्तु तत्वज्ञान, जो इनका प्रतिद्वन्द्वी है, वह एक है। इसलिये उक्त कथन अमान्य है।

अब इसका उत्तर देते हैं—

व्यभिचारादहेतुः ॥५॥

सूत्रार्थ—व्यभिचारात्=व्यभिचार दोष होने से उक्त हेतु, अहेतुः=मान्य नहीं है।

व्याख्या—उपरोक्त हेतु सदोष है। क्योंकि काले, हरे, पीले आदि रङ्गों का विरोधी एक अग्नि है, जो उन सब को जलाकर नष्ट कर देता है। इसी प्रकार एक तत्वज्ञान भी राग, द्वेष, मोह का नाश करने में समर्थ है।

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥६॥

सूत्रार्थ—तेषाम्=उनमें, मोहः=मोह, पापीयात्=अत्यन्त पापी है, क्योंकि, अमूढस्य=मोह-विहीन पुरुष को, इतरोत्पत्तेः=राग, द्वेष की उत्पत्ति, न=नहीं होती।

व्याख्या—मोह सभी दोषों का मूल है। जिसे मोह नहीं होता,

उसे राग द्वेष भी नहीं होते। इससे मोह ही सबसे बड़ा पापिष्ठ एवं मनुष्य का शत्रु होना सिद्ध होता है। इसमें आक्षेप यह है—

प्राप्तस्तर्हिनिमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तर-भावोदोषेभ्यः ॥७॥

सूत्रार्थ—निमित्तनैमित्तिकभावात्=कार्य-कारण भाव होने से, दोषेभ्यः=दोषों में, अर्थान्तर भावः=अर्थान्तर भाव की प्राप्तस्तर्हिः=प्राप्ति का होना सिद्धि होगा।

व्याख्या—जब मोह दोष की उत्पत्ति का कारण है तो कार्य-कारण भाव मानना होगा, जो कि द्वेषादि से भिन्न है। क्योंकि कारण कार्य नहीं हो सकता। इसलिये मोह को दोषों का कारण मानना ठीक है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—मोहस्य=मोह के, दोषलक्षण-अवरोधात्=दोष लक्षणों में अवरोध होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—मोह में दोष के लक्षण हैं, इसलिये मोह और दोष में कुछ अन्तर नहीं है। मोह, दोष की प्रवृति का कारण होने से स्वयं दोष ही है।

अगले सूत्र में कार्य-कारण भाव का समाधान करते हैं—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानाम-प्रतिषेधः ॥९॥

सूत्रार्थ—तुल्यजातीयानाम्=तुल्य जाति वाले द्रव्यों में, निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः=कारण और कार्य भाव की उपपत्ति से, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं होता।

व्याख्या—समजातीय द्रव्यों में अनेक प्रकार से कार्य-कारण भाव मिलता है। जैसे जल, पृथ्वी का कारण है, और तेज का कार्य है, परन्तु इस कार्य-कारण भाव से भी इनके समान जातीय होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। वैसे ही मोह के राग-द्वेष का कारण होने से भी उसके दोषमय होने में कोई बाधा नहीं आती।

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभाव सिद्धिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—आत्मनित्यत्वे=आत्मा के नित्यत्व से, प्रेत्यभावसिद्धिः=प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है।

व्याख्या—आत्मा के नित्य होने पर ही उसका पुनर्जन्म धारण करना सिद्ध होता है। यदि आत्मा नित्य न हो तो पुनर्जन्म होगा ही कैसे ? इससे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है वही पुनर्जन्म ग्रहण करती है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे—

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥११॥

सूत्रार्थ—व्यक्ताद्व्यक्तानाम्=व्यक्त से व्यक्त का उत्पन्न होना, प्रत्यक्षप्रामाण्यात्—प्रत्यक्ष रूप से प्रामाणिक है।

व्याख्या—व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखते हैं। मिट्टी से घड़ा, धागों से वस्त्र बनते हुए देखा ही जाता है। इससे सिद्ध है कि सजातीय कारण से सजातीय कार्य की उत्पत्ति है। इस पर वादी आक्षेप करता है—

न घटाद् घटाऽनिष्पत्तेः ॥१२॥

सूत्रार्थ—घटात्=घड़े से, घटाऽनिष्पत्तेः=घड़ा उत्पन्न होता हुआ, न=नहीं देखते।

व्याख्या—सजातीय से सजातीय का उत्पन्न होना तो तब होता जब घड़े से घड़ा उत्पन्न हो जाता। इससे सिद्ध हुआ कि अणु से महान् की उत्पत्ति होती है। इसलिये व्यक्त का कारण व्यक्त नहीं हो सकता।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—व्यक्तात्=व्यक्त से, घटनिष्पत्तेः=घड़े की उत्पत्ति का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं होता।

व्याख्या—हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि सब जगह व्यक्त से ही व्यक्त उत्पन्न होता है। किन्तु हम यह कहते हैं कि जो व्यक्त उत्पन्न होता है, वह अपने सजातीय द्रव्य से ही होता है। क्योंकि, मिट्टी भी व्यक्त है, घड़ा भी व्यक्त है तो व्यक्त से घड़े की उत्पत्ति का निषेध नहीं होता। इस पर पुनः आक्षेप है—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—नानुपमृद्य=बीज का नाश होने पर, प्रादुर्भावात्=अंकुर की उत्पति होती है, इससे, अभावाद्भावोत्पत्तिः=अभाव से भाव का उत्पन्न होना सिद्ध है।

व्याख्या—जब बीज गलकर नष्ट होजाता है, तभी उसमें से अंकुर फूटता है। इससे सिद्ध होता है अभाव से भाव उत्पन्न होता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—व्याघातात्=व्याघात होने से, अप्रयोगः=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—बीज नष्ट होने पर अंकुर उत्पन्न होना कहा गया है,

वह ठीक नहीं है। क्योंकि उसमें व्याघात दोष मिलता है। बीज के गलने से उसका अभाव नहीं होता। यदि अभाव से उत्पत्ति होती तो बीज के गलने की आवश्यकता ही न होती। इससे, अभाव से भाव का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता।

इस पर पुनः आक्षेप करते हैं—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—अतीतानागतयोः=अतीत और अनागत में, कारकशब्द प्रयोगात्=कारक शब्द के प्रयुक्त होने से, उक्त पक्ष ठीक नहीं है।

व्याख्या—बीते हुए और होने वाले अर्थात् अविद्यमान में कारक शब्द का प्रयोग होता है। जैसे घड़ा मौजूद था, पुत्र उत्पन्न होगा आदि शब्द बहुधा कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उपरोक्त कथन ठीक नहीं।

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥१७॥

सूत्रार्थ—विनष्टेभ्यः=नष्ट हुए बीज से, अनिष्पत्तेः= अंकुर की उत्पत्ति न होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—नष्ट हुए बीज से पौधा उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसकी अवस्था में अन्तर आ जाने पर बीज की उत्पत्ति होती है। इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति न होना सिद्ध है।

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥१८॥

सूत्रार्थ—क्रमनिर्देशात्=निर्दिष्ट क्रम से, अप्रतिषेधः= निषेध नहीं हो सकता।

व्याख्या—बीज के गलने और अंकुर निकलने का जो कार्य है, उसे क्रम कहेंगे। क्योंकि बीज के गलने पर अंकुर उत्पन्न होता है।

उसमें बीज नष्ट नहीं होता, परन्तु अवस्था मात्र बदलती है। इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति न होना सिद्ध है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥१९॥

सूत्रार्थ—पुरुषः=पुरुष के, कर्माफल्यदर्शनात्=कर्म की विफलता देखकर, ईश्वरः=ईश्वर का, कारणम्=कारण होना सिद्ध है।

व्याख्या—पुरुष जिस प्रयोजन से उद्योग करता है, उसका वह प्रयोजन सफल नहीं होता अथवा यों कहिये कि जो कार्य मनुष्य करता है, उसका इच्छानुसार फल नहीं मिलता। इससे समझना चाहिये कि मनुष्य फल प्राप्ति में पराधीन है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि ईश्वर ही उसका कारण है। इस पर अन्य मत है—

न पुरुषकर्माऽभावे फलानिष्पत्तेः ॥२०॥

सूत्रार्थ—पुरुषकर्माऽभावे=पुरुष के कर्म के अभाव में, फलानिष्पत्तेः=फल की निष्पत्ति नहीं होती, न=इसलिये भी उक्त धारणा ठीक नहीं है।

व्याख्या—यदि मनुष्य कर्म न करे तो उसे किसी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती। यदि फल देना ईश्वराधीन होता तो पुरुषार्थ के बिना भी कार्य सिद्धि हो जानी चाहिए थी। परन्तु, ऐसा न होने से उक्त कथन प्रमाणित नहीं होता।

अब, सूत्रकार इसका समाधान करेंगे—

तत्कारित्वादहेतुः ॥२१॥

सूत्रार्थ—तत्कारित्वात्=ईश्वर के कारित होने से, अहेतुः=उक्त युक्ति अयुक्त है।

व्याख्या—ईश्वर की प्रेरणा के बिना कर्म का फल नहीं मिल

सकता। क्योंकि, कर्म जड़ है और वह स्वयं फल निष्पत्ति में समर्थ नहीं है। इस पर अन्य आक्षेप है—

अनिमित्ततोभावोत्पत्तिः कण्टक तैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—अनिमित्ततः=अनिमित्त से, भावोत्पत्तिः=भावों की उत्पत्ति होती है, कण्टक तैक्ष्ण्यादि=काँटे में तीखापन, दर्शात्=देखने से, यही मानना ठीक है।

व्याख्या—काँटों में नोंक स्वभाव से ही होती हैं, उसे कोई बनाता नहीं। इससे जान पड़ता है पदार्थों की उत्पत्ति बिना निमित्त के हो जाती है। अब, इस पर आक्षेप करते हैं—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नाऽनिमित्ततः ॥२३॥

सूत्रार्थ—अनिमित्तनिमित्तत्वात्=अनिमित्त के निमित्त होने से, अनिमित्ततः=अनिमित्त से उत्पत्ति, न=नहीं होती।

व्याख्या—जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसका निमित्त है। यदि अनिमित्त से उत्पत्ति होती तो उसका कारण भी अनिमित्त ही होता। परन्तु, अनिमित्त से उत्पत्ति नहीं हो सकती, यही सिद्ध है।]

इस पर सूत्रकार कहते हैं—

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥

सूत्रार्थ—निमित्तानिमित्तयोः—निमित्त और अनिमित्त के, अर्थान्तरभावात्=भिन्न होने से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—निमित्त और अनिमित्त एक दूसरे के विपरीत हैं। निमित्त अनिमित्त नहीं हो सकता और अनिमित्त निमित्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कोई वस्तु अपना खण्डन स्वयं नहीं कर सकती। जो स्वयं अभाव है, उससे भाव की उत्पत्ति संभव नहीं। इससे उक्त हेतु सिद्ध नहीं होता।

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थ—उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात्=उत्पत्ति और नाश धर्म वाला होने से, सर्वमनित्यम्=सब अनित्य है।

व्याख्या—जो वस्तु विनाश धर्म वाली है वह अनित्य कही जाती है और संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हो-होकर नष्ट होते जाते हैं, इसलिए वे सभी अनित्य हैं। इस पर आक्षेप है—

नाऽनित्यतानित्यत्वात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—अनित्यतानित्यत्वात्=अनित्यता के नित्य होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—उपरोक्त सूत्र में सब वस्तुओं को अनित्य कहा है इनसे अनित्यता का नित्य होना सिद्ध होता है। इस प्रकार अनित्यता नित्य है तो अनित्य कुछ भी नहीं होगा।

अगले सूत्र में इस पर भी आक्षेप करते हैं—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥२७॥

सूत्रार्थ—अग्नेर्दाह्यम्=अग्नि के दाह्य का, विनाश्यानुविनाशवत्=नाश करके स्वयं नष्ट हो जाने के समान, तदनित्यत्वम्=उसका भी अनित्य होना सिद्ध है।

व्याख्या—जैसे अग्नि की ज्वाला ईंधन आदि को जला कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, वैसे ही अनित्यता सब पदार्थों को नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाती है।

इस पर सूत्रकार द्वारा समाधान है—

नित्यस्याऽप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥२८॥

सूत्रार्थ—यथोपलब्धिव्यवस्थानात्=उपलब्धि और व्यवस्थान से, नित्यस्य=नित्य का, अप्रत्याख्यानम्=खण्डन नहीं हो सकता।

व्याख्या—नित्य वस्तुओं का खण्डन करना ठीक नहीं। क्योंकि परीक्षा करने पर नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। इनमें शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि अनित्य और आकाश, काल, आत्मा आदि नित्य हैं। इसका खण्डन नहीं हो सकता। इस पर अन्य आक्षेप यह है—

सर्वनित्यं पंचभूतनित्यत्वात् ॥२९॥

सूत्रार्थ—पंचभूतनित्यत्वात् = पंच भूतों के नित्य होने से, सर्व नित्य = सभी पदार्थों का नित्यत्व सिद्ध है।

व्याख्या—पंचभूत नित्य हैं, इनका नष्ट होना सिद्ध नहीं होता और पंचभूत सबके कारण हैं तो कारण के नित्य होने से उसके सभी कार्यों का नित्य होना सिद्ध होता है। इसका उत्तर देते हैं—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥३०॥

सूत्रार्थ—उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः = उनके उत्पत्ति और विनाश के कारण मिलने से, न = उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—घड़ा आदि पदार्थों को बनते और टूटते हुये प्रायः देखते हैं, इससे उनका अनित्यत्व सिद्ध है। इस प्रकार सब पदार्थों को नित्य कहना अयुक्त है। इस पर वादी का आक्षेप है—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥३१॥

सूत्रार्थ—तल्लक्षणावरोधात् = उसके लक्षण के अवरोध से, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—जिस वस्तु में उत्पत्ति-विनाश के लक्षण हैं, उसमें परमाणु का लक्षण नहीं होता, क्योंकि परमाणु नित्य हैं। परन्तु, सब पदार्थ परमाणुओं से बने होने के कारण उनकी नित्यता का निषेध नहीं कर सकते।

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥३२॥

सूत्रार्थ -उत्पत्ति=उत्पत्ति और, तत्कारण=उसके कारण की, उपलब्धेः=उपलब्धि होने से, न=अनित्यत्व की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—उत्पत्ति और विनाश के कारण वास्तविक नहीं, औपाधिक हैं। प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने से पहिले भी विद्यमान रहता है और विनाश के बाद भी उसका अस्तित्व नष्ट नहीं होता। घड़ा टूट जाता है तो भी उसके टूटे हुये कपाल आदि रहते ही हैं और उसका कारण द्रव्य मिट्टी सदा विद्यमान रहती है। इससे सिद्ध है कि कोई पदार्थ अनित्य नहीं है।

इस पर सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं—

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥३३॥

सूत्रार्थ—व्यवस्थानुपपत्तोः=व्यवस्था की उपपत्ति न होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—सब को नित्य मानने से उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था ही न रहेगी। यदि पदार्थ पहिले से विद्यमान है तो उसकी उत्पत्ति कैसे मानी जायगी? यदि नष्ट होने पर विद्यमानता है तो नष्ट होना कैसे कहा जायगा? इससे अविद्यमान रूप की प्राप्ति, उत्पत्ति और स्वरूप की हानि को विनाश मानना ठीक है। इससे नाशवान् पदार्थों का भी अनित्यत्व कहना युक्तिसंगत नहीं है।

इस पर पुनः आक्षेप होता है—

सर्वपृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—भावलक्षण पृथकत्वात्=भाव लक्षणों के पृथक्-पृथक् होने से, सर्व पृथक्=सभी पदार्थों में पृथकत्व है।

व्याख्या—किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं है। सभी के भाव-

लक्षण पृथक् पृथक् हैं। जाति, आकृति और व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नहीं है। सभी पदार्थ पृथक् पृथक् और अनेक हैं।

अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं—

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥३५॥

सूत्रार्थ—अनेक लक्षणैः=अनेक लक्षणों से, एक भाव-निष्पत्तेः=एक भाव की निष्पत्ति होती है, इसलिये, न=उक्त कथन युक्तिःसंगत नहीं है।

व्याख्या—अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्ध हो जाती है तो अनेक को क्यों मानें? क्योंकि अनेक अवयव मिल कर एक अवयवी होता है।

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥३६॥

सूत्रार्थ—लक्षणव्यवस्थानात्=लक्षण की व्यवस्था होने से, एव=ही, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—भाव के लक्षण संज्ञा का नियम एक अवयवी में है। मिट्टी के अवयवों से घड़ा बना है, परन्तु, पानी उस घड़े में ही भरा जाता है, मिट्टी के अवयवों में नहीं। इस प्रकार अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि होती है। इसलिये एकत्व का निषेध नहीं बनता। इस पर अन्य प्रतिवादी कहता है—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥३७॥

सूत्रार्थ—भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः=भावों में परस्पर अभाव को सिद्धि होने से, सर्वम्-अभावः=सब अभाव है।

व्याख्या—परस्पर भावों में अभाव की सिद्धि होती है। जैसे घड़े में वस्त्र का अभाव है, वस्त्र में घड़े का अभाव है, गौ में घोड़े का अभाव और घोड़े में गौ का अभाव है। इस प्रकार अभाव की सिद्धि होने से सब अभाव ही मान लेना चाहिये।

अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥३८॥

सूत्रार्थ—भावानाम्=भावों की, स्वभावसिद्धेः=स्वभाव से सिद्धि होने के कारण, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—सभी पदार्थ अपने-अपने भावों में वर्तमान हैं। घड़े में घड़े का भाव है, वस्त्र में वस्त्र का, घोड़े में घोड़े का गौ में गौ का, तो अभाव कहाँ रहा ? इस पर पुनः शंका की जाती है—

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थ—स्वभावसिद्धिः=स्वभाव से सिद्धि, आपेक्षिकत्वात् =आपेक्षिक होने से, न=उक्त कथन सगत नहीं ।

व्याख्या—सब पदार्थों के स्वभाव अपेक्षा से हैं। ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व । एक दूसरे की अपेक्षा के बिना कोई भी व्यवस्थित नहीं है और अपेक्षा के कारण स्वभाव सिद्ध नहीं कह सकते। इसका समाधान यह है—

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥४०॥

सूत्रार्थ—व्याहतत्वात्=व्याघात होने से, अयुक्तम्=उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या—ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व है ऐसा कहने में अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। इसलिये, सभी भावों को आपेक्षिक कहना ठीक नहीं है।

अब संख्यावाद की परीक्षा प्रारम्भ करते हैं—

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥४१॥

सूत्रार्थ—कारणानुपपत्तिः=कारण की अनपपत्ति और

उपपत्तिभ्याम्=उपपत्ति होने से, संख्यैकान्त=संख्यावाद की, असिद्धिः=सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या यदि कार्य-कारण अलग-अलग हैं तो भेद की सिद्धि होती है और उनका एक होना सिद्ध नहीं होता। यदि अभेद है तो कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार संख्यावाद सिद्ध नहीं होता।

अगले सूत्र में इस पर शंका करते हैं—

न कारणावयवभावात् ॥४२॥

सूत्रार्थ—कारणावयवभावात्=कारण के अवयव होने से, न=उक्त कथन युक्त नहीं है।

व्याख्या—कारण कार्य का अवयव है और समष्टि व्यष्टि में अन्तर सिद्ध नहीं होता। इसलिये एक का निषेध करना युक्तिसंगत नहीं मान सकते। इसका खण्डन करते हैं—

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—निरवयवत्वात्=कारण के निरवयव होने से, अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—कार्य के अवयव होते हैं, परन्तु कारण सूक्ष्म होने से अवयव-रहित होता है। इसलिये कारण का अवयव मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सद्यः कालान्तरे चा फल निष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ—कालान्तरे=कालान्तर में, च=और, सद्यः=तुरन्त, फलनिष्पतेः=फल की प्राप्ति होने से इसमें, संशयः=सन्देह है।

व्याख्या—दूध दुहने का फल तत्काल देखने में आता है अर्थात् दुहते ही दूध निकलने लगता है, पर बीज बोने पर अन्न कालान्तर में

उत्पन्न होता है। इससे यज्ञ आदि का फल मिलेगा या नहीं यह सन्देहास्पद है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यवत्वात् ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ—कालान्तरोपभोग्यवत्वात्=कालान्तर में भोगने योग्य होने से, सद्यः=तत्काल फल, न=नहीं मिलता।

व्याख्या—जैसे बीज बोने का फल अन्न के रूप में कालान्तर में मिलता है, वैसे ही यज्ञ आदि क्रियाओं का फल संदेहास्पद नहीं मान सकते। इस पर फिर शंका होती है—

कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—हेतुविनाशात्=हेतु के नष्ट होने से, कालान्तरेण=कालान्तर में, अनिष्पत्तिः=फल की प्राप्ति नहीं होती।

व्याख्या—क्रिया के नष्ट होने पर, कारण के बिना उसका कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार फल के लिये जो यज्ञ किये जाते हैं, उनकी क्रिया यहीं नष्ट हो जाती है। इसलिये जन्मान्तर में कर्म का फल मिलना सम्भव नहीं।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—वृक्ष फलवत्=वृक्ष के फल के समान, प्राङ्-निष्पत्तेः=उत्पत्ति से पूर्व, तत्स्यात्=वह होगा।

व्याख्या—जिस प्रकार फल की आशा से कृषक पहले खेत को जोतता, पानी देता और बीज बोता है और वे सभी कार्य फल के उत्पन्न होने से पहिले ही नष्ट हो जाते हैं। क्रियाओं के नष्ट होने पर मिट्टी और जल के परमाणुओं से बीज बढ़ता रहता है। बाद में पत्ते, शाखा, पुष्प, फल

आदि आते हैं। इसी प्रकार धर्म-अधर्म कर्म रूप संस्कार के उत्पन्न होने पर उसका शुभ या अशुभ फल मिलता है। इस पर फिर शंका करते हैं—

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोवैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ—सदसतोवैधर्म्यात्=सत् और असत् के विपरीत धर्म वाले होबे से, नासन्नसत्=न असत् है, न सत् और, न=न, सदसत्=सत्-असत् ही है।

व्याख्या—उत्पत्ति से पूर्व के कर्मों का फल न सत् है, न असत् और न सदसत् ही है। आगे होने वाले फल के अविद्यमान होने से उसे सत् नहीं कह सकते। असत् इसलिये नहीं कह सकते कि प्रत्येक कार्य का कारण उत्पत्ति से पहिले विद्यमान रहता है। यदि कहें कि सत्-असत् ही क्यों न मान लें? तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक पदार्थ में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का रहना सम्भव नहीं है।

अब इसका समाधान करते हैं—

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति धर्मकमसदित्यद्धोत्पाद-
व्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ—प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति=उत्पत्ति से पहिले, धर्म-कर्म सदित्यद्धोत्पात्=उत्पत्ति धर्म वाला असत् है, क्योंकि उत्पत्ति का, अव्ययदर्शनात्=विनाश देखे जाने से, यही सिद्ध होता है।

व्याख्या- उत्पन्न होने वाला पदार्थ, उत्पत्ति से पहिले असत् होता है। क्योंकि उसका उत्पन्न होना और नष्ट होना प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिये उत्पन्न होने से पहिले प्रत्येक पदार्थ को असत् मानना चाहिये।

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ—तु=जो, बुद्धि सिद्धः=बुद्धि से सिद्ध है, तदसत् =वह असत् है।

व्याख्या—अमुक उपादान से अमुक वस्तु बनेगी यह बुद्धि से जाना जाता है। उत्पत्ति से पहिले उपादान कारण नियत होता है, केवल बुद्धिपूर्वक उससे उत्पादन करना है। ऐसे पदार्थ को असत् मानना चाहिये। इस पर शंका होती है—

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥५१॥

सूत्रार्थ—आश्रयव्यतिरेकात्=आश्रय-भेद से, वृक्षफलोत्पत्तिवत्=वृक्ष के फल की उत्पत्ति के समान, इति=यह कथन, अहेतुः=अयुक्त समझना चाहिये।

व्याख्या—कर्म करने वाले शरीर के नष्ट होने पर फल किसे प्राप्त होगा ? इसमें वृक्ष का दृष्टान्त अनुपयुक्त है। क्योंकि जल सींचना और फल मिलना एक ही वृक्ष के सम्बन्ध में है। यहाँ तो शरीर से कर्म होता है और वह शरीर नष्ट हो जाता है तो दूसरा शरीर फल भोगता है, इसमें आश्रय भेद होने से ठीक नहीं है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ—प्रीतेरात्माश्रयत्वात्=इच्छा का आत्मा के आश्रित होने से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—धर्म-अधर्म भेद वाला कर्म इच्छा से सम्बन्धित होने के कारण आत्मा का आश्रित है। क्योंकि, इच्छा आत्मा का गुण है। शरीर तो कर्म का अधिष्ठान मात्र है। इसलिये वृक्ष का दृष्टान्त अनुपयुक्त नहीं हो सकता।

इस पर पुनः शंका होती है—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥२३॥

सूत्रार्थ—पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादि=पुत्र, पशु, स्त्री,

परिच्छद, सुवर्ण और अन्न आदि का, फलनिर्देशात्=फलों में निर्देश होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या— स्त्री, पुत्र आदि भी कर्मों का फल माने जाते हैं और वे आत्मा से अलग हैं, इसलिये भी आत्मा फल का आश्रय नहीं हो सकता। अतः वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं। इसका समाधान यह है—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥

सूत्रार्थ—फलनिष्पत्तेस्तेषु=फल की निष्पत्ति का, तत्संबंधात्=इच्छा से सम्बन्ध होने से, फलवत्=फल के समान, उपचारः=पुत्र आदि में उपचार मानते हैं।

व्याख्या—पुत्र आदि के सम्बन्ध से सुख आदि की उत्पत्ति होने के कारण पुत्र आदि में फल का उपचार मानना ठीक है। जैसे अन्न को प्राण कहा है, परन्तु अन्न प्राण नहीं, प्राण का पोषक है। परन्तु, उपचार रूप से प्राण कह दिया। इसी प्रकार पुत्र सुख नहीं, सुख देने वाला है, इसलिये, उसमें फल का उपचार किया गया है।

फल की परीक्षा हो गई, अब दुःख की परीक्षा करेंगे—

विविधबाधनायोगाद्दुःखमेवजन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

सूत्रार्थ—विविध बाधनायोगात्=विभिन्न बाधाओं के संयोग से, जन्मोत्पत्तिः=जन्मोत्पत्ति, दुःखमेव=दुःख के ही समान है।

व्याख्या—दुःख का लक्षण बाधाएं हैं। सुख की उत्पत्ति में बाधा उत्पन्न होना दुःख रूप ही है। बाधा से तात्पर्य जन्म-मरण के बन्धन से भी है। जन्म होगा तो मरण निश्चित है। इससे जन्म को साक्षात् दुःख रूप ही समझना चाहिये। इस पर शंका करते हैं—

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

सूत्रार्थ—सुखस्यान्तराल=दुःख के अन्तर्गत सुख की, निष्पत्तेः=उत्पत्ति होने से, न=उक्त मान्यता ठीक नहीं।

व्याख्या—जीवन में केवल दु:ख ही नहीं है, सुख भी हैं। दु:ख है तो सुख भी अवश्य होगा। इसलिये, सब दु:ख रूप बताना ठीक नहीं है।

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादऽप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

सूत्रार्थ—बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः=दु:ख की निवृत्ति न होने पर, और, पर्येषणदोषात्=सुखार्थी की इच्छा का दोष होने से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—सुख चाहने वाला व्यक्ति पर्येषण दोष के कारण सुख नहीं पा सकता। क्योंकि, प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार से दु:खी अवश्य है। और जो सुखी है, वह कभी-न-कभी दु:ख अवश्य पाता है।

दु:खविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

सूत्रार्थ—दु:खविकल्पे=दु:ख के विकल्प में, सुखाभिमानात् =सुख का अभिमान होने से, च=भी, जन्म होना दु:ख रूप ही है।

व्याख्या—अविद्या के कारण दु:ख ही सुख समझ लिया जाता है। क्योंकि, जितने सुख हैं उन सबका परिणाम दु:ख ही है। जन्म को प्रसन्नता का विषय मानते हैं, परन्तु जो जन्म लेता है, वह विभिन्न प्रकार के दु:ख-सुख को भोग कर अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। अब, अपवर्ग के सम्बन्ध में कहेंगे—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाऽभावः ॥ ५९ ॥

सूत्रार्थ—ऋणक्लेशप्रवृत्तिः=ऋण, क्लेश, प्रवृत्ति के, अनुबंधात्=बंधन से, अपवर्गाऽभावः=अपवर्ग का अभाव है।

व्याख्या—ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सांसारिक चक्र में फँसा रहता है। इसलिये मोक्ष-प्राप्ति का यत्न नहीं कर पाता। अतः मोक्ष का अभाव ही मानना चाहिये।

इसका समाधान करते हैं—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुण शब्देनानुवादोनिन्दा-प्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

सूत्रार्थ—प्रधानशब्दानुपपत्तेः=प्रधान शब्द की उपपत्ति न होने से तथा, निन्दाप्रशसोपपत्तेः=निन्दा और प्रशंसा की उपपत्ति होने से, गुणशब्देन=गुण शब्द से, अनुवादः=कहा गया है।

व्याख्या—जहाँ देने योग्य दिया जाता और लेने योग्य लिया जाता है, वहाँ तो ऋण शब्द की प्रधानता है। परन्तु "जायमानोह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते" में ऋण शब्द गौण से अनुवाद हुआ है, प्रधान रूप से नहीं है। इस प्रकार उक्त शब्द के अर्थवाद से सम्बन्धित होने से अपवर्ग का अभाव नहीं बनता।

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ—च=और, विद्यान्तरवत्=अन्य विद्याओं के समान, अधिकारात्=अधिकार से, विधानम्=विधान होता है।

व्याख्या—प्रत्येक शास्त्र अपने विषय का वर्णन करता है। गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथ गृहस्थ धर्मों का वर्णन करते हैं और आध्यात्मिक ग्रन्थ ईश्वर परक होने से मोक्षादि को कहते हैं। ऋण आदि का विधान गृहस्थ के अधिकार में होने से मुमुक्षु को मोक्ष-प्राप्ति के कार्य में कोई बाधा नहीं हो सकती।

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६२ ॥

सूत्रार्थ—आत्मनि=आत्मा में, समारोपणात्=आह्वनीय आदि तीन अग्नियों के समारोपण से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—सन्यासी को आह्वनीय आदि तीन अग्नियों का आत्मा में समारोपण करने का विधान मिलता है। क्योंकि संन्यासी स्वर्ग की कामना नहीं रखता और अग्निहोत्र आदि का फल स्वर्ग है। इसलिये मोक्ष की कामना वाले को ऋणादि का बन्धन मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

सुषुप्तस्यस्वप्नादर्शनेक्लेशाभावादपवर्गः ॥६३॥

सूत्रार्थ—सुषुप्तस्य=सोते हुए को, स्वप्नादर्शने=स्वप्न न दिखाई देने पर, क्लेशाभावात्=क्लेश का अभाव होता है, वैसे ही, अपवर्गः=अपवर्ग होगा।

व्याख्या—प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए मनुष्य को राग-द्वेष आदि के छूट जाने से सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। उसी प्रकार ज्ञानी जन को राग-द्वेष आदि से निवृत्त होने के कारण मोक्ष में बाधा नहीं हो सकती।

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥६४॥

सूत्रार्थ—हीनक्लेशस्य=तुच्छ क्लेशों की, प्रवृत्तिः=प्रवृत्ति, प्रतिसन्धानाय=बन्धन के निमित्त, न=नहीं होती।

व्याख्या—राग आदि दोषों से क्लेश की उत्पत्ति होती है। जिस पुरुष के राग आदि दोष मिट गये हैं, उनकी प्रवृत्ति बन्धन की ओर नहीं हो सकती। इस पर शङ्का है।

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥६५॥

सूत्रार्थ—क्लेशसन्ततेः=क्लेश के अनुबन्ध, स्वाभाविकत्वात्=स्वाभाविक होने से, न=विच्छेद नहीं होता।

व्याख्या—राग आदि की परम्परा न जाने कब से चली आ रही है, उसका विच्छेद कभी नहीं होता। इसलिये क्लेश का अनुबन्ध स्वाभाविक मानना चाहिये।

अगले सूत्र में समाधान करते हैं ।

प्रागुत्पत्तेरभावाऽनित्यत्वस्वाभाविकेऽप्य नित्यत्वम् ॥६६॥

सूत्रार्थ—प्रागुत्पत्तेः=उत्पत्ति से पहिले, अभावऽनित्यत्व=अभाव की अनित्यता के समान, स्वाभाविकः=स्वाभाविक में, अपि=भी, अनित्यत्वम्=अनित्यता सिद्ध होती है ।

व्याख्या—उत्पत्ति से पहिले जैसे उसका अभाव नित्य होता है, वैसे ही स्वाभाविक क्लेश-सन्तति का भी नित्यत्व नहीं बनता ।

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ॥६७॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, अणुश्यामता=अणुओं की श्यामता के, अनित्यत्ववत्=अनित्य होने के समान, क्लेश-सन्तति का अनित्यत्व सिद्ध होता है

व्याख्या—जैसे परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाती है, वैसे ही क्लेश-सन्तति स्वाभाविक होने पर भी अनित्य है ।

इस पर सूत्रकार समाधान करते हैं ।

न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥६८॥

सूत्रार्थ—च=और, रागादीनाम्=राग आदि के, संकल्प-निमित्तत्वात्=संकल्प निमित्त होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है ।

व्याख्या—राग आदि की उत्पत्ति संकल्प से होती है । तत्वज्ञान हो जाता है तब संकल्प विकल्प नहीं रहते । इस प्रकार रागादि न रहने पर क्लेश का अनुबन्ध भी नहीं रह सकता ।

॥ चतुर्थोऽध्यायः—प्रथमाह्निक समाप्तम् ॥

चतुर्थोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

इस आह्निक में तत्वज्ञान की परीक्षा करेंगे । पहिले उसका क्रम कहते हैं ।

दोषनिमित्तानां तत्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥१॥

सूत्रार्थ—दोषनिमित्तानाम्=दोष के जो कारण हैं, उनके, तत्वज्ञानात्=तत्व ज्ञान से, अहंकारनिवृत्तिः=अहंकार की निवृत्ति होती है ।

व्याख्या—राग आदि दोषों के कारण शरीर आदि हैं । उनका तत्व जान लेने पर अहङ्कार मिट जाता है ।

दोषनिमित्तं रूपादयोविषयाः संकल्पकृताः ॥२॥

सूत्रार्थ—दोषनिमित्तम्=दोष के निमित्त, रूपादयोविषयाः=रूप आदि विषय, संकल्पकृताः=संकल्प से उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्या—विषय दो प्रकार के हैं, बाह्य और आन्तरिक । रूप आदि बाह्य विषय राग आदि को उत्पन्न करने वाले हैं और अहङ्कार आदि आन्तरिक दोष हैं । इनमें सर्व प्रथम बाह्य विषयों का त्याग करे । फिर आन्तरिक विषयों को छोड़ दे ।

सन्निमित्तांत्ववयव्यभिमानः ॥३॥

सूत्रार्थ— सन्निमित्तम्=उन दोषों का निमित्त, तु=तो, अवयवि=अवयवी का, अभिमानः=अभिमान है ।

व्याख्या - अवयवी में जो अभिमान बुद्धि होती है, वही राग आदि दोषों की निमित्त है । इसलिये अभिमान वाली बुद्धि को त्यागना चाहिये ।

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ॥४॥

सूत्रार्थ—विद्याऽविद्या=विद्या और अविद्या के, द्वैविध्यात्=दो प्रकार की होने से, संशयः=संदेह होता है।

व्याख्या—सत् और असत् दो प्रकार का ज्ञान होने से विद्या दो प्रकार की है तथा इन दोनों का ज्ञान न होने से अविद्या भी दो प्रकार की ही है। एक अवयवी के होने से उसके ज्ञान के सत् या असत् होने का संदेह होता है। इसलिये अवयवी को संदिग्ध मानना ही ठीक है। इसका समाधान यह है।

तदऽसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—पूर्वहेतु प्रसिद्धत्वात्=पूर्व हेतु के प्रसिद्ध होने से, तदऽसंशयः=उसमें संशय नहीं है।

व्याख्या—द्वितीय अध्याय में अवयवी का होना सिद्ध कर चुके हैं। उनका खण्डन न होने से अवयवी में संदेह नहीं है।

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥६॥

सूत्रार्थ—वृत्यनुपपत्तेः=वृत्ति की उपपत्ति न होने से, अपि=भी, तर्हि=उसमें ही, संशयः=सन्देह, न=नहीं बनता।

व्याख्या—यदि अवयवी का न होना मानें तो भी उसमें संदेह व्यर्थ है। क्योंकि, जो वस्तु है उसी में संदेह हो सकता है, नहीं है, उसमें संदेह कैसा ?

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥७॥

सूत्रार्थ—कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात्=सब अवयवों के एक देशवर्त्ती होने से, अवयवानाम्=अवयवों का, अवयवी=अवयवी होना, अभावः=नहीं बनता।

व्याख्या—एक-एक अवयव सब अवयवों में नहीं रह सकता, क्योंकि उनके कार्य में भिन्नता है। इसलिये अवयवी का अभाव होता है।

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—तेषु=उन अवयवों में, आवृत्तेः=आवृत्ति होने से, च=भी, अवयव्यभावः=अवयवी का अभाव सिद्ध होता है।

व्याख्या—परिणाम भेद के कारण अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता। जब एक-एक अवयव में अवयवी का अभाव है तो सभी अवयवों में उसका अभाव मानना होगा।

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ।

सूत्रार्थ—अवयवेभ्यः=अवयवों से, पृथक्=भिन्न, अवृत्ते=वर्तमान न होने से, च=भी, अवयवी की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—यदि अवयवों से अवयवी को भिन्न पदार्थ मानें तो ऐसा सिद्ध नहीं होता। इसलिये अवयवी का अभाव मानना ही ठीक है।

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—च=और, अवयव्यवयवाः=अवयव अवयवी, न=नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि अवयय और अवयवी में भेद न मानें, तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि धागों को वस्त्र या मिट्टी को घड़ा नहीं कह सकते।

इसका समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

एकस्मिन् भेदाभावाद्भेद शब्दप्रयोगानुपपत्तेर-प्रश्नः ॥ ११॥

सूत्रार्थ—एकस्मिन् भेदाभावात्=एक में भेद का अभाव

होने से, भेद शब्द प्रयोगानुपपत्ते:=भेद शब्द के प्रयोग का अनुपपत्ति से, अप्रश्न:=प्रश्न नहीं बनता।

व्याख्या—प्रत्येक अवयव में सम्पूर्ण अवयवी रहता है या उसका कोई भाग ? यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि अवयवों का समुदाय ही अवयवी है। इसलिए अवयव और अवयवी में कोई भेद नहीं है।

अवयवान्तराऽभावेप्यवृत्तेरहेतुः ॥१२॥

सूत्रार्थ—अवयवान्तराऽभावे=अवयव के अन्तर में अभाव होने पर, अपि=भी, अवृत्तेः=वृत्ति का न होना सिद्ध होने से, अहेतुः=वह हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—एक अवयवी के अन्य अवयवों में न रहने से जो अवयवी का अभाव कहा, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और सम्बन्ध तभी रहेगा, जब वृत्तियों सहित अवयवी सब अवयवों में हो। इस पर शङ्का करते हैं—

केश समूहेतैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—केश समूहे=बालों के समूह में, तैमिरिकोपलब्धिवत्=अन्धकार की उपलब्धि के समान, तदुपलब्धिः=उसकी उपलब्धि है।

व्याख्या—जैसे कम दृष्टि वाले को एक बाल दिखाई नहीं देता, परन्तु, वह बालों के समूह को काले धब्बे के समान देख लेता है। इसी प्रकार एक अणु के दिखाई न देने पर भी अणुओं का समुदाय अवयवी रूप में दिखाई देता है। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाऽभावोनाऽविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—स्वविषयान्=अपने-अपने विषय के, अतिक्रमेण=

अतिक्रमण करने पर, इन्द्रियस्य=इन्द्रियों के, पटुमन्दभावात्=तीव्र और मन्द होने से, विषय ग्रहणस्य=विषय ग्रहण होने पर, तथाऽभावोनाऽविषये प्रवृत्तिः=तथानुसार अन्य विषय में प्रवृत्ति नहीं होती।

व्याख्या—कोई भी इन्द्रिय अपने विषय का अतिक्रमण नहीं कर सकती। नेत्र से सुनाई पड़ना सम्भव नहीं। कान देखने का कार्य नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि परमाणु अतीन्द्रिय है, वह नेत्र से दिखाई देना सम्भव नहीं। जब एक परमाणु दिखाई नहीं देता, तो उनका समूह कैसे दिखाई देगा? इस पर शङ्का है—

अवयवाऽवयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, आप्रलयात्=प्रलय पर्यन्त, अवयवाऽवयविप्रसङ्गः=अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग, च=भी उपस्थित होगा।

व्याख्या—यदि अवयव में अवयवी की वृत्ति को न मानें तो अवयवी का अभाव हो जायगा या निरवयव मानने से परमाणुवाद ही समाप्त हो जायगा, दोनों दशाओं में उपलब्धि नहीं होगी।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—अणुसद्भावात्=परमाणुओं के होने से, प्रलयः=नाश, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—अवयवों का विभाग कहकर वृत्ति निषेध द्वारा अभाव बताया गया, वह परमाणुओं के निरवयव होने से असिद्ध होगा। क्योंकि, परमाणु का विभाग न होने से; उसका नाश भी नहीं हो सकता।

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—त्रुटेः=नाश से, वा=जो, परम्=अतिरिक्त है।

व्याख्या—परमाणु सूक्ष्म और विनाश-रहित होता है। अथवा किसी पदार्थ का विभाग करते-करते, वह दशा आजाय कि फिर उसका विभाग न हो सके, वही परमाणु है अब आक्षेप है—

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ।। १८ ।।

सूत्रार्थ—आकाशव्यतिभेदात्=आकाश के व्यति भेद से, तद्नुपपत्तिः=उस निरवयव की उपपत्ति नहीं है।

व्याख्या—परमाणु निरवयव नहीं है, उसके बाहर भीतर आकाश है इस प्रकार व्याप्त वस्तु निरवयव नहीं हो सकती।

आकाशाऽसर्वगतत्वं वा ।। १९ ।।

सूत्रार्थ— वा=अथवा, आकाश=आकाश, असर्वगतत्वम्=सर्वगत नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि परमाणु में आकाश का होना न मानें तो आकाश सर्वव्यापक नहीं रहेगा इसका समाधान यह है—

अन्तर्बहिश्चकार्यद्रव्यस्यकारणान्तरवचनाद-कार्येतदभावः ।। २० ।।

सूत्रार्थ—अन्तः=भीतर, च=और, बहिः=बाहर कार्य-द्रव्यस्य=कार्य द्रव्य के, कारणान्तरवचनात्=कारणान्तर वचन से, अकार्ये=अकार्य में, तदभावः=उसका अभाव है।

व्याख्या—जब कार्य द्रव्य, कारण की दशा में न हो तब उ में भीतर बाहर का व्यवहार हो सकता है। परन्तु, कारण रूप परमाणु में वैसा नहीं हो सकता। नीचे इसी को पुष्ट करते हैं—

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् ।। २१ ।।

सूत्रार्थ - सर्वसंयोग=सर्वत्र संयोग, च=और, शब्द-विभवात्=शब्द के होने स, सर्वगतम्=आकाश सर्वव्याप्त है।

व्याख्या—संसार के सब पदार्थों में आकाश है। यदि आकाश न होता तो वस्तुओं में छिद्र रूप अवकाश नहीं हो सकता था। इससे सिद्ध हुआ कि आकाश सर्वदेशीय है।

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥२२॥

सूत्रार्थ—अव्यूहं=अव्यूह, अविष्टम्भ=अविष्टम्भ, च= और, विभुत्वानि=विभुत्व यह, धर्माः=धर्म, आकाश=आकाश के हैं।

व्याख्या—मिश्रित पदार्थों का आघात से छिन्न-भिन्न होना व्यूह और अन्य देश में गति का रुकना विष्टम्भ है। यह दोनों बातें आकाश में नहीं हैं, वह तो केवल विभु है। इस पर पुनः शंका करते हैं—

मूर्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥२३॥

सूत्रार्थ—मूर्तिमताम्=मूर्त द्रव्यों में, संस्थानोपपत्तेः= परिमाण की उपपत्ति होने से, अवयवसद्भावः=अवयव का सद्भाव है।

व्याख्या—परिच्छिन्न और स्पर्श वाले द्रव्यों का आकार होता है और आकार वाले सभी पदार्थ संयुक्त हैं। परमाणु भी ऐसा ही है, इसलिये उसे निरवयव नहीं मान सकते।

संयोगोपपत्तेश्च ॥२४॥

सूत्रार्थ—संयोगः=संयोग की, उपपत्तेः=उपपत्ति होने से, च=भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जब तीन परमाणु मिलते हैं तब एक बीच में और एक-एक इधर-उधर होते हैं, इस प्रकार उनका संयुक्त होना भी सिद्ध है। अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥२५॥

सूत्रार्थ—अनवस्थाकारित्वात्=अनवस्था कारित होने से, च=और, अनवस्थानुपपत्तेः=अनवस्था की उपपत्ति होने से, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—संयुक्त पदार्थ अवयव वाले, आकार वाले तथा अनित्य होते हैं। यह हेतु अनवस्थाकारी है और अनवस्था होने से उक्त हेतु माना नहीं जा सकता।

बुद्धयाविवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धि ॥२६॥

सूत्रार्थ—बुद्धयाविवेचनात्=बुद्धि से विचारने पर, तु=तो, भावानाम्=भावों की, याथात्म्यानुपलब्धिः=यथार्थ प्राप्ति नहीं होती, तन्त्वपकर्षणेपटसद्भावानुपलब्धिवत्=तन्तु के अनुभव से पट के होने की उपलब्धि न होने के समान, तदनुपलब्धिः=उसकी अप्राप्ति है।

व्याख्या—कपड़े को देखें तो वह तारों का समूह मात्र है। इसलिये कपड़ा केवल बुद्धि का विषय है, यथार्थ में कुछ नहीं। इस पर वस्तु ज्ञान मिथ्या है। क्योंकि जो कुछ मालुम होता है, वह केवल ज्ञान से ही है, इसके सिवाय कुछ है ही नहीं। इसका समाधान करते हैं—

व्याहतत्वादहेतुः ॥२७॥

सूत्रार्थ—व्याहतत्वात्=व्याहत होने से, अहेतुः=अहेतु है।

व्याख्या—बुद्धि से विवेचन किये जाने पर भावों की अप्राप्ति नहीं रह सकती और जहाँ भावों की अप्राप्ति है वहाँ बुद्धि से विवेचन नहीं हुआ। यह व्याघात दोष होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

तदाश्रयत्वादऽपृथग्ग्रहणम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—तदाश्रयत्वात् = उसके आश्रित होने से, अपृथक्-ग्रहणम् = पृथक् ग्रहण नहीं होता।

व्याख्या—कार्य अपने कारण का आश्रित होने से उसका पृथक् ग्रहण नहीं किया जाता।

प्रमाणतश्चाऽर्थप्रतिपत्तेः ॥२९॥

सूत्रार्थ—च = और, प्रमाणतः = प्रमाण से, अर्थप्रतिपत्तेः = अर्थ की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—जो वस्तु जैसी है, उसकी उपलब्धि प्रमाण से होती हैं। उसका विवेचन बुद्धि से होता है।

प्रमाणानुपपत्युपपत्तिभ्याम् ॥३०॥

सूत्रार्थ—प्रमाणानुपपत्तिः = प्रमाण की अनुपपत्ति और उपपत्तिभ्याम् = उपपत्ति से भी यही मानना ठीक है।

व्याख्या—पदार्थों को कल्पित मानना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रमाण से कल्पित सिद्ध करेंगे, उसका अस्तित्व तो मानना ही होगा। फिर अभाव कैसे बनेगा ? यदि प्रमाण के बिना ही कल्पित कहने लगें तो उसे कोई मानेगा नहीं। इस पर शंका करते हैं—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः ॥३१॥

सूत्रार्थ—स्वप्नविषयाभिमानवत् = स्वप्न विषयक अभिमान के समान, अयम् = यह, प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः = प्रमाण और प्रमेय का अभिमान है।

व्याख्या—स्वप्न में प्रमेय पदार्थों के कल्पित होने पर भी उनका अभिमान होता है, वैसे ही प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी कल्पित है।

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥३२॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, मायागंधर्वनगर—मायामय गंधर्व नगर, या, मृगतृष्णिकावत्=मृगतृष्णा के समान मिथ्या है।

व्याख्या—माया के गन्धर्व नगर और मृगतृष्णा का ज्ञान मिथ्या है, वैसे ही प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी वस्तु शून्य है।

हेत्वभावादसिद्धिः ॥३३॥

सूत्रार्थ—हेत्वाभावात्=हेतु के अभाव से, असिद्धिः= उक्त हेतु की सिद्धि नहीं है।

व्याख्या—स्वप्न के विषय कल्पित हैं, यह कहना कोई हेतु नहीं है। क्योंकि स्वप्न में विषयों का अभाव है तो क्या हुआ, जागने पर तो भाव होता है।

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥३४॥

सूत्रार्थ—स्मृतिसङ्कल्पवत्=स्मृति और सङ्कल्प के समान, स्वप्नविषयाभिमानः=स्वप्न विषय का अभिमान है।

व्याख्या—जिन कारणों से स्मृति और संकल्प होते हैं, उन्हीं कारणों से स्वप्नाभिमान होता है। यदि जागरण और स्वप्न में भेद न होता तो स्वप्नाभिमान कहा ही नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि स्वप्नाभिमान जाग्रत में अनुभव किये विषयों का स्मारक और साधक है।

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे: ॥३५॥

सूत्रार्थ—प्रतिबोधे:=जागने पर, स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्=स्वप्न के विषय का अभिमान नष्ट हो जाने के समान,

तत्वज्ञानात्=तत्वज्ञान से मिथ्योपलब्धिविनाशः=मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है।

व्याख्या—मिथ्या ज्ञान वह है जिसमें किसी वस्तु को कुछ का कुछ समझा जाता है। तत्व ज्ञान के होने पर हर वस्तु का यथार्थ स्वरूप मालुम हो जाता है।

बुद्धेश्चैवं निमित्तसाद्भावोपलभ्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, निमित्तसाद्भावोपलभ्यात्=कारण और सत्ता की उपलब्धि से, बुद्धेः=बुद्धि की, च=भी सत्ता सिद्ध होती है।

व्याख्या—मिथ्या बुद्धि का कारण और उससे उत्पन्न अस्तित्व की उपलब्धि से, मिथ्या बुद्धि का भी अस्तित्व मानना उचित है।

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—तत्वप्रधानभेदात्=तत्व और प्रधान के भेद से, च=भी, मिथ्याबुद्धेः=मिथ्या बुद्धि, द्वैविध्योपपत्तिः=दो प्रकार पाई जाती है।

व्याख्या—मिथ्या बुद्धि दो प्रकार की है—तत्व और प्रधान। इनमें स्थाणु तत्व है और पुरुष प्रधान है। स्थाणु को पुरुष मानने की भ्राँति ही मिथ्या बुद्धि है।

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—समाधिविशेषः=समाधि विशेष के, अभ्यासात्=अभ्यास से तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—विषयों से हटाकर मन को परमेश्वर के ध्यान में लगाना समाधि है, उसी के अभ्यास से तत्व ज्ञान हो सकता है। इस पर वादी शंका करता है—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—अर्थविशेषप्राबल्यात्=अर्थ विशेष की प्रबलता से, न=समाधि नहीं हो सकती।

व्याख्या—इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषय इतने प्रबल हैं कि न चाहते हुए भी मनुष्य उनके चक्कर में पड़ जाता है, और उनका त्याग नहीं हो पाने से समाधि का होना कठिन ही है।

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—क्षुदादिभिः=भूख आदि की, प्रवर्त्तनात्=प्रवृत्ति से, च=भी यही मानना ठीक है।

व्याख्या—भूख, प्यास, रोग आदि ऐसे विषय हैं कि इनके कारण मनुष्य का मन स्थिर नहीं हो सकता। इसलिये समाधि का होना सम्भव नहीं है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—पूर्वकृतफलानुबन्धात्=पूर्व जन्म के कर्म फल के अनुबन्ध से, तदुत्पत्तिः=समाधि की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—समाधि की सिद्धि पूर्व जन्मों के संचित कर्म फल के रूप में होती है। इसका कारण पूर्व संस्कार और अभ्यास है।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—अरण्यगुहापुलिनादिषु=वन, गुफा और नदी के किनारे, योगाभ्यासोपदेशः=योगाभ्यास करने का उपदेश है।

व्याख्या—जङ्गल, गुफा या किसी नदी के किनारे एकान्त स्थान में बैठकर समाधि का अभ्यास करे।

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ।। ४३ ।।

सूत्रार्थ—अपवर्गे=मोक्ष में, अपि=भी, एवम्=ऐसा ही, प्रसंगः=प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—जैसे सांसारिक मनुष्य अपने को बाह्य विषयों से नहीं बचा सकता, वैसे ही मोक्ष में यह बाह्य विषय बुद्धि को क्यों न विचलित करेंगे ? इसका समाधान करते हैं—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ।। ४४ ।।

सूत्रार्थ—निष्पन्नावश्यम्भावित्वात्=बाह्य ज्ञान के अवश्यंभावी होने से, न=ऐसा नहीं होता।

व्याख्या—मुक्त अवस्था में स्थूल शरीर नहीं रहता, केवल सूक्ष्म शरीर रहता है, इसलिये बाह्य विषय ग्रहण नहीं किये जा सकते। जब इन्द्रियाँ ही नहीं तो विषय ज्ञान कहाँ से होगा ?

तदभावश्चापवर्गे ।। ४५ ।।

सूत्रार्थ—अपवर्गे=मोक्ष में, तद्भावः=शरीर का अभाव होने से भी विषय-ग्रहण सम्भव नहीं।

व्याख्या—मोक्ष अवस्था में शरीर नहीं रहने से विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।। ४६ ।।

सूत्रार्थ—तदर्थम्=उस मोक्ष के निमित्त, यमनियमाभ्याम्=यमनियम पूर्वक, च=और, योगात्=योग से तथा, अध्यात्मविध्युपायैः=अध्यात्म विद्या आदि के उपायों से, आत्म संस्कारः=आत्मा का संस्कार करना चाहिये।

व्याख्या—मोक्ष के स्वरूप को जानने तथा आत्मसाक्षात्कार करने का सुनिश्चित उपाय योगिक साधनाओं का आश्रय लेना ही है क्योंकि इसके बिना तत्वज्ञान नहीं हो सकता।

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ।। ४७ ।।

सूत्रार्थ—ज्ञानग्रहणाभ्यासः=ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास, च=और, तद्विद्यैः=उसके विद्वानों से, सह संवादः=सह सम्वाद करे।

व्याख्या—योग साधन के अतिरिक्त अध्ययन आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा करे और जिस विषय में शंका हो, उसमें विद्वानों से परामर्श ले तथा जिज्ञासु भाव से समाधान प्राप्त करे।

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ।। ४८ ।।

सूत्रार्थ—तम्=उस आत्मज्ञानी को, विशिष्ट=विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थिभिः=श्रेयार्थी और, अनसूयिभिः=निन्दा रहित, शिष्यगुरुसब्रह्मचारी=शिष्य गुरु और सहपाठी के साथ, अभ्युपेयात्=सेवा आदि से प्राप्त करना चाहिये।

व्याख्या—आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये आत्मतत्वदर्शी विशिष्ट ज्ञानी से गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार शिक्षा प्राप्त करे। वह गुरु भी निन्दा रहित और परम ज्ञानी होने चाहिये।

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।। ४९ ।।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, प्रयोजनार्थमर्थित्वे=तत्व ज्ञान की इच्छा होने पर अपने प्रयोजन के लिये, प्रतिपक्षहीनम्=प्रतिपक्ष हीन होकर, अपि=ही, ज्ञान प्राप्त करे।

व्याख्या—जिज्ञासु भाव से अपने प्रयोजन की सिद्धि में लग जाये, किसी पक्ष-विपक्ष या मत-मतान्तर में न पड़े ।

तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह संरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ · बीजप्ररोहसंरक्षणार्थम्=बीज की रक्षा के लिये, कण्टकशाखावरणवत्=काँटे की शाखाओं का आवरण करने के समान, तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्=तत्व निर्णय की रक्षा के लिये, जल्पवितण्डे=जल्प और वितण्डा हैं ।

व्याख्या—जल्प और वितण्डा का लक्षण पहले अध्याय में कह चुके हैं । यद्यपि जल्प और वितण्डा का प्रयोग उचित नहीं है फिर भी बीज की रक्षा के लिये काँटों की बाढ़ लगा देते हैं, वैसे ही आवश्यकता पड़ने पर जल्प और वितण्डा का प्रयोग करके भी तत्व निर्णय की रक्षा करनी चाहिये ।

॥ चतुर्थाध्यायः द्वितीयह्निक समाप्तम् ॥

पंचमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्प साध्य-प्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रति दृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरण-हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्या-नित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्णसम, अवर्णसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्ति-सम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरण-सम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धि-सम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम और कार्यसम—यह २४ जाति-भेद हैं।

व्याख्या—इन भेदों के द्वारा प्रतिपक्षी के हेतुओं का खण्डन करते हैं। आगे इनका लक्षण कहेंगे।

साधर्म्यवैधर्माभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्=साधर्म्य और वैधर्म्य से, उपसंहारे=साधर्म्य का उपसंहार करने पर, तद्धर्मविपर्ययः= उसके धर्म के व्यतिक्रम की, उपपत्तेः=उपपत्ति से, साधर्म्य-वैधर्म्यसमौ=साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—जब साधर्म्य से साध्य में विपरीत धर्म देखते हैं, तब

साधर्म्य ही साध्य का खण्डन कर देता है, यही साधर्म्यसम दोष है और दो पदार्थों के विरुद्ध धर्मों को लेकर उनकी विषमता का प्रतिपादन करना वैधर्म्यसम दोष है।

गोत्वाद् गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—गोत्वाद्=गऊपन से, गोसिद्धिवत्=गऊ की सिद्धि होने के समान, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि है।

व्याख्या—गऊ को सिद्ध करने के लिये गऊपन और गऊ की आकृति ही मुख्य कारण है, पूँछ, पाँव आदि नहीं। अर्थात् गऊपन से गऊ को सिद्ध करना साधर्म्यसम है।

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—साध्यदृष्टान्तयोः=साध्य और दृष्टान्त के, धर्म-विकल्पात्=धर्म-विकल्प से, उभयसाध्यत्वात्=दोनों प्रकार से सिद्ध होने से, उत्कर्षापकर्ष=उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्यावर्ण्य=वर्ण, अवर्ण, विकल्पसाध्यसमाः=विकल्प और साध्य यह छै प्रतिषेध होते हैं।

व्याख्या—साध्य और दृष्टान्त के भेद से दोनों प्रकार सिद्ध होने वाले उक्त छै प्रतिषेध कहे गये हैं।

अगले सूत्र में सूत्रकार अपना मत देते है।

किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥५॥

सूत्रार्थ—किंचित्साधर्म्यात्=साध्य की सिद्ध में किंचित् साधर्म्य होने से, उपसंहारसिद्धेः=उपसंहार सिद्ध होने पर, वैधर्म्यात्=वैधर्म्य से, अप्रतिषेधः=खण्डनीय नहीं है।

व्याख्या · जहाँ कुछ साधर्म्य होगा, वहीं साध्य की सिद्धि होगी उसमें किसी धर्म के विरोधी होने से उसका प्रतिषेध नहीं होता । किन्तु धर्म में मिलने से उपमान की सिद्धि होती है ।

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥६॥

सूत्रार्थ—साध्य-अतिदेशात्=साध्य के अतिदेश से, च= भी, दृष्टान्तोपपत्तेः=दृष्टान्त की उपपत्ति होती है ।

व्याख्या—दृष्टान्त में साध्य के सब धर्मों के मिलने की आवश्यकता नहीं है, एक धर्म मिल जाना चाहिये । यदि सभी धर्म मिल जायें तो साध्य और दृष्टान्त में कुछ भेद ही न रहेगा । इसलिये साध्य-सम का निषेध नहीं बनता ।

प्राप्तसाध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वाद-प्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥७॥

सूत्रार्थ—प्राप्त्या-अविशिष्टत्वात्=प्राप्ति में विशेषता न होने से, हेतोः=हेतु से, प्राप्यसाध्यप्राप्य=साध्य को पाकर सिद्ध करने को प्राप्य, वा=अथवा, अप्राप्त्या=अप्राप्ति के, असाध-कत्वात्=असाधक होने से, प्राप्त्य=अप्राप्ति का प्रतिषेधक, अप्राप्तिसमौ=अप्राप्यसम कहा जाता है ।

व्याख्या—प्राप्ति से खण्डन करना प्राप्तसम और अप्राप्ति से खण्डन करने को अप्राप्यसम कहा जाता है । इस पर सूत्रकार का मत है ।

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥८॥

सूत्रार्थ—घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्=घड़े आदि की निष्पत्ति देखने से, च=और, अभिचारात्=अभिचार से, पीडने=पीड़ा होने पर, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—घड़े को बनता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं यह चाक और मिट्टी आदि के संयोग होने पर बनता है, बिना संयोग के घड़े का अभाव सिद्ध है। इसलिये प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का निषेध ठीक नहीं।

दृष्टान्तस्य कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिद्रष्टान्तसमौ ॥९॥

सूत्रार्थ- दृष्टान्तस्य=दृष्टान्त के, कारणऽनपदेशात्=कारण के अनपदेश से, च=और, प्रतिदृष्टान्तेन=प्रतिदृष्टान्त के, प्रत्यवस्थानात्=खण्डन से, प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ=प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम होते हैं।

व्याख्या—कारण का कारण और दृष्टान्त का दृष्टान्त नहीं माना जाता। यदि ऐसा मानें तो उनके भी कारण और दृष्टान्त का प्रसंग आवेगा। इसे प्रसंगसम दोष और प्रत्येक दृष्टान्त में इस दोष की संभावना प्रतिदृष्टान्तसम दोष कहा जायगा।

प्रदीपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—प्रदीपादान=दीपक के ग्रहण करने में, प्रसंगनिवृत्तिवत्=प्रसङ्ग की निवृत्ति के समान, तद्विनिवृत्तिः=इसकी निवृति है।

व्याख्या—अँधेरा दूर करने के लिये दीपक जलाते हैं, परन्तु दीपक को देखने के लिये दूसरा दीपक नहीं जलाते। ऐसे ही दृष्टान्त की सिद्धि के लिये अन्य दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं होती।

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥११॥

सूत्रार्थ—प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे=प्रति दृष्टान्त के हेतु में, दृष्टान्तः=दृष्टान्त, अहेतुः=अयुक्त, न=नहीं है।

व्याख्या—दृष्टान्त का खण्डन करने के लिये प्रतिदृष्टान्त दिया

जाता है। परन्तु, दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि नहीं होती तो प्रतिदृष्टान्त से उसका खण्डन भी नहीं हो सकता।

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥१२॥

सूत्रार्थ—प्रागुत्पत्तो=उत्पत्ति के पूर्व, कारणाभावात्=कारण के अभाव से, अनुत्पत्तिसमः=अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध होता है

व्याख्या—अनुत्पत्ति के दृष्टान्त से उत्पत्ति का खण्डन करने को अनुत्पत्ति समदोष कहते। अगले सूत्र उत्तर देते है—

तथा भावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ।१३।

सूत्रार्थ—तथाभावादुत्पन्नस्य=उत्पन्न के उस प्रकार होने से, तथाकारणोपपत्तोः=कारण की उपपत्ति होने से, कारणप्रतिषेधः=कारण का निषेध, न=नहीं होता।

व्याख्या -उत्पत्ति से पहिले शब्द का अभाव है और शब्द के न होने से अनुत्पत्ति को कारण मानकर उसका खण्डन करना युक्तिसंगत नहीं है।

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्याऽनित्य-साधर्म्यात् संशयसमः ॥१४॥

सूत्रार्थ—सामान्यदृष्टान्तयोः=सामान्य और दृष्टान्त में, ऐन्द्रियकत्वे=इन्द्रिय सम्बन्धी दोष, समाने=समान है, नित्यानित्य=नित्य-अनित्य के, साधर्म्यात्=साधर्म्य से, संशयसमः=संशयसम प्रतिषेध होता है।

व्याख्या—संशय को हेतु मानकर जिस के द्वारा खण्डन करें, वह संशयसम है। इसमें नित्य तथा अनित्य के साधर्म्य से संशय रहता है। जैसे कहें कि शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है फिर कहें कि घड़े के समान है तो इसमें संशय रहने से ही संशयसम कहा गया है।

साधर्म्यात्संशये न संशयोवैधर्म्यादुभयथावासंशयो-ऽत्यंतसंशय प्रसंगोनित्यत्वान्नाऽभ्युपगमाच्च सामान्यस्यप्रतिषेधः ॥१५॥

सूत्रार्थ—साधर्म्यात्=साधर्म्य से, संशये=संशय होने पर, वैधर्म्यात्=विधर्म से, सशयः=संशय, न=नहीं रहता, वा=यदि, उभयथा=दोनों प्रकार से, संशयः=संशय मानें तो, अत्यन्तसंशयप्रसङ्गः=अत्यन्त संशय का प्रसङ्ग होगा, नित्यत्वात्=नित्यत्व के, अभ्युपगमात्=अभ्युपगम, न=न होने से, च=भी, सामान्य का, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—साधर्म्य से संशय हो तो वैधर्म्य से संशय नहीं रहेगा। यदि दोनों प्रकार से संशय हो तो फिर अत्यन्त संशय का दोष उपस्थित होगा। विशेष का ज्ञान होने पर नित्यत्व के साधर्म्य का निषेध नहीं कर सकते।

उभयासाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥१६॥

सूत्रार्थ—उभयासाधर्म्यात्=दोनों के साधर्म्य से, प्रक्रिया-सिद्धेः=प्रक्रिया की सिद्धि होने पर, प्रकरणसमः=प्रकरणसम होता है।

व्याख्या—पक्ष और विपक्ष की प्रवृत्ति ही प्रक्रिया है। उसकी उत्पत्ति नित्य-अनित्य के साधर्म्य से होती है। इससे प्रकरणसम बनता है तथा नित्य अनित्य के वैधर्म्य से भी प्रकरणसम उत्पन्न हो जाता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे—

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधाऽनुपपत्तिः प्रति-पक्षोपपत्तेः ॥१६॥

सूत्रार्थ—प्रतिपक्षात्=प्रतिपक्ष से, प्रकरणसिद्धेः=प्रकरण

सिद्ध होने पर, प्रतिपक्षोपपत्तेः=प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से, प्रतिषेधानुपपत्तिः=प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होती।

व्याख्या—दोनों के साधर्म्य से प्रकरण सिद्ध होने में प्रतिपक्ष कारण हुआ। इसलिये प्रतिपक्ष का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि, प्रतिपक्ष और प्रतिषेध दोनों एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते।

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥१८॥

सूत्रार्थ—हेतो=हेतु के, त्रैकाल्यासिद्धेः=तीनों काल में सिद्ध न होने पर, अहेतुसमः=अहेतुसम होता है।

व्याख्या—हेतु साधन को कहते है। यह तीनों काल में असिद्ध है। न वह साध्य के पहिले होता है, न पीछे और न साथ ही होता है। इसलिये उसे अहेतुसम कहा है।

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥१९॥

सूत्रार्थ—हेतुतः=हेतु से, साध्यसिद्धेः=साध्य के सिद्ध होने पर, त्रैकाल्यासिद्धिः=तीन काल में असिद्धि, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—यदि कहें कि कोई कार्य कारण के बिना सिद्ध नहीं होता और बिना साधन के कोई साध्य भी सिद्ध नहीं होता तो हेतु का तीनों काल में सिद्ध होना भी नहीं कह सकते, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि, जो ज्ञेय है वही साध्य है, उसका जानने वाला साधन है, वही उसका हेतु है।

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याऽप्रतिषेधः ॥२०॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेध-अनुपपत्तेः=प्रतिषेध की उपपत्ति न होने से, प्रतिषेद्धव्य=प्रतिषेद्धव्य का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—यदि हेतु के त्रिकाल में असिद्ध होने से उसका खण्डन

करें तो इस खण्डन का भी खण्डन हो जाता है। इसलिये निषेध करना ठीक नहीं।

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥२१॥

सूत्रार्थ—अर्थापत्तितः=अर्थापत्ति से, प्रतिपक्षसिद्धेः=प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर, अर्थापत्तिसमः=अर्थापत्तिसम होगा।

व्याख्या—एक बात कहें उससे दूसरी बात स्वयं जान ली जाय यह अर्थापत्ति है। इस प्रकार अर्थापत्ति होने से प्रतिपक्ष की सिद्धि होती हो तो उसे अर्थापत्तिसम कहते हैं।

अगले सूत्र में इसका निराकरण करेंगे—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥२२॥

सूत्रार्थ—अनुक्तस्यार्थापत्तेः=अर्थापत्ति के न कहे गये, च=और, अनैकान्तिकत्वात्=अनैकान्तिक होने से, अनुक्तत्वात्=न कहे गये, अर्थापत्तेः=अर्थापत्ति से, पक्षहानेरुपपत्तेः=पक्षहानि की उपपत्ति है।

व्याख्या—अर्थापत्ति के न कही गयी होने से और अनैकान्तिक होने से, अर्थापत्ति दोष नहीं बनता। क्योंकि अस्पष्ट होने से कोई शब्द को नित्य कहे तो अर्थापत्ति से यह कहना कि उत्पन्न होने से शब्द नित्य नहीं, युक्ति-सङ्गत नहीं मान सकते।

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥२३॥

सूत्रार्थ—अविशेषे=अविशेष में, एकधर्मोपपत्तेः=एक धर्म की उपपत्ति से, सर्वाविशेषप्रसङ्गात्=सम्पूर्ण विशेष प्रसङ्ग आने

से, सद्भावोपपत्तेः=सद्भाव की उपपत्ति होना, अविशेषसमः=अविशेषसम होगा।

व्याख्या—किसी एक धर्म की समानता दिखलाकर दो पदार्थों को सामान्यतया एक ही मानना अविशेषसम दोष है। जैसे कहें कि शब्द और घड़ा दोनों उत्पन्न धर्म वाले होने से समान हैं। इस प्रकार सबको एक जैसा बताना अविशेषसम कहा जायगा। अब इसका समाधान करते हैं—

क्वचिद्धर्माऽनुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः।२४।

सूत्रार्थ—क्वचिद्धर्माऽनुपपत्तेः=कहीं धर्म की अनुपपत्ति, च=और, क्वचित्=कहीं, उपपत्तेः=उपपत्ति से, प्रतिषेधाभावः=निषेध का अभाव होता है।

व्याख्या—कहीं तो एक धर्म मिलता है और कहीं नहीं मिलता इसलिए अनैकान्तिक होने के कारण अविशेषसम दोष को उचित नहीं कह सकते।

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥२५॥

सूत्रार्थ—उभय कारणोपपत्तेः=दोनों कारणों की उपपत्ति होने से, उपपत्तिसमः=उपपत्ति सम होता है।

व्याख्या—जैसे शब्द का अनित्यत्व उसके उत्पत्ति धर्म से है तो उसके नित्यत्व का कारण अस्पृश्य अर्थात् योग्य न होने से है। इन कारणों की उत्पत्ति होने से उपपत्तिसम दोष होता है।

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादऽप्रतिषेधः ॥२६॥

सूत्रार्थ—उपपत्ति कारणाभ्यनुज्ञात्=उपपत्ति के मान लेने पर, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—जब दोनों कारणों की उत्पत्ति स्वीकार करली गई हो तो फिर उसे मान्यता न देने का कोई आधार नहीं रहता।

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥२७॥

सूत्रार्थ—निर्दिष्ट कारणाभावे = निर्दिष्ट कारण के अभाव में, अपि = भी, उपलम्भात् = उपलम्भ से, उपलब्धिसमः = उपलब्धिसम होता है ।

व्याख्या—नियत कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि होती है, इसलिये उसे उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान कहते हैं। अब इसका समाधान करेंगे—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥२८॥

सूत्रार्थ—कारणान्तरात् = कारणान्तर से, अपि = भी, तद्धर्मः = उस धर्म की, उपपत्तेः = उपपत्ति होने से, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—अन्य कारणों से भी उस धर्म का उत्पन्न होना संभव है, इसलिये निषेध करना युक्तिसङ्गत नहीं है ।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धि समः ॥२९॥

सूत्रार्थ—तदनुपलब्धेः = उसकी अनुपलब्धि के, अनुपलम्भात् = अनुपलम्भ से, अभाव सिद्धौ = अभाव के सिद्ध होने पर, तद्विपरीतोपपत्तेः = उनके विपरीत उपपन्न होने से, अनुपलब्धिसमः = अनुपलब्धिसम होता है ।

व्याख्या—आवरण की प्रत्यक्षता में उसका अभाव मानें तो उसके अभाव की प्रत्यक्षता से अभाव का भी अभाव मानना होगा। और आवरण के अभाव का अभाव मानने से भाव की सिद्धि होगी। तब शब्द का भी नित्यत्व सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार दूषण देने को अनुपलब्धिसम कहते हैं। अब इसका उत्तर देते हैं।

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥३०॥

सूत्रार्थ—अनुपलब्धेः=अनुपलब्धि के, अनुपलम्भात्मकत्वात् =अनुपलम्भात्मक होने से, अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं।

व्याख्या—अभाव से अभाव को सिद्ध करना ठीक नहीं है। क्योंकि भाव का अभाव होता है, अभाव का क्या अभाव होगा? जो वस्तु है उसी की उपलब्धि होती है, नहीं है उसकी उपलब्धि कहाँ से होगी? इसलिये अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान नहीं बनता।

ज्ञानविकल्पानाञ्चभावाऽभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—ज्ञानविकल्पानाम्=ज्ञान विकल्पों का, भावः= होना, च=और, अभावः=न होना इसका, संवेदनादध्यात्मम्= अनुभव आत्मा में होने से भी उक्त हेतु ठीक नहीं।

व्याख्या—प्रत्येक व्यक्ति अपने आत्मा में ज्ञान विकल्पों के होने का अनुभव करता रहता है। जैसे 'मैं घड़े को देखता हूँ' ऐसा कहने से ही शब्द के आवरण के अभाव का अभाव अनुभव नहीं करता। इससे आवरण की कल्पना उचित नहीं है।

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसमः ॥३२॥

सूत्रार्थ—साधर्म्यात्=साधर्म्य से, तुल्यधर्मोपपत्तेः=समान धर्म की उपपत्ति होने पर, सर्वानित्यत्व=सब में अनित्यत्व के, प्रसङ्गात्=प्रसंग से, अनित्यसमः=अनित्यसम होता है।

व्याख्या—'अनित्य घड़े के साधर्म्य से शब्द अनित्य है' ऐसा कहने पर यदि कहें कि 'घड़ा भी एक पदार्थ है। उसके साधर्म्य से सभी पदार्थ अनित्य होंगे।' इस प्रकार अनित्यत्व कहना अनित्यसम प्रत्यवस्थान होता है।

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधाऽसिद्धिः प्रतिषेध्य-स र्म्याच्च ॥३३॥

सूत्रार्थ—साधर्म्यात्=साधर्म्य से, असिद्धेः=असिद्ध होने पर, प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्=निषेधित के साधर्म्य से, प्रतिषेधाऽसिद्धे=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—यदि घड़ा और शब्द का उत्पन्न होना साधर्म्य शब्द के अनित्यत्व में पर्याप्त नहीं है, तो घड़े के साधर्म्य से सब पदार्थों का अनित्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि शब्द भी सब पदार्थों में आगया। इसलिये प्रतिवादी का कथन युक्तिसंगत नहीं है।

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाऽविशेषः ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—दृष्टान्ते=दृष्टान्त में, साध्यसाधनभावेन=साध्य साधन भाव से, प्रज्ञातस्यधर्मस्य=ज्ञान होने वाला धर्म, हेतुत्वात्=हेतु होने से, च=और, उभयथा=दोनों प्रकार का, भावात्=होने से, अविशेषः=अविशेष नहीं।

व्याख्या—साध्य का साधक धर्म हेतु है। वह हेतु किसी के अनुकूल और किसी के प्रतिकूल होता है। उसका किसी के साथ सामान्य और किसी के साथ विशेष सम्बन्ध होता है। इसमें सामान्य से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य उत्पन्न होता है। इनमें से एक के आश्रय से ही खण्डन करना ठीक नहीं है। इसलिये केवल साधर्म्य से अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता।

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः।३५।

सूत्रार्थ—नित्यमनित्यभावात्=नित्य में अनित्य के भाव से और, अनित्ये=अनित्य में, नित्यत्व=नित्यत्व का भाव, उपपत्तेः=उपपन्न होने से, नित्यसमः=नित्यसम होता है।

व्याख्या—वादी ने कहा शब्द अनित्य है, इस पर प्रतिवादी ने पूछा कि शब्द में जो अनित्यत्व है वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य कहें तो गुण नित्य हो तो गुणी भी नित्य होगा और यदि अनित्य कहो तो उसमें जो अनित्यत्व है, उसके अनित्य होने से शब्द का नित्यत्व सिद्ध हो जायगा ।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाऽभावः ।। ३६ ।।

सूत्रार्थ—प्रतिषेध्ये = प्रतिषेध्य में, नित्यमनित्यभावात् = अनित्य के नित्य होने से, व अनित्ये = अनित्य में, नित्यत्वोपपत्तेः = नित्यत्व की उपपत्ति से, प्रतिषेधाऽभावः = निषेध का अभाव है ।

व्याख्या—शब्द को अनित्य मानकर नित्य कहना अयुक्त है । क्योंकि नित्यत्व का हेतु अनित्यत्व नहीं हो सकता और हेतु के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं होता । जहाँ अनित्यत्व का अभाव हो वहाँ भाव नहीं हो सकता । इसलिये नित्यसम दोष मानना युक्तिसंगत नहीं ।

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ।। ३७ ।।

सूत्रार्थ—प्रयत्न कार्यानेकत्वात् = प्रयत्न कार्य के अनेक होने से, कार्यसमः = कार्यसम होता है ।

व्याख्या—प्रतिवादी ने प्रयत्न के बाद उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है, यह स्वीकार कर लिया, परन्तु, प्रयत्न के अनेक कार्य हैं अर्थात् प्रयत्न के बाद किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है और किसी की अभिव्यक्ति । तो प्रयत्न का कार्य होने से शब्द को उत्पन्न हुआ ही क्यों मानें ? अभिव्यक्त हुआ क्यों न मान लें ? इस प्रकार, कार्य के अनेकत्व से कार्यसम दोष होता है । अगले सूत्र में इसका उत्तर देते हैं—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाऽहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ।३८।

सूत्रार्थ—कार्यान्यत्वे=कार्य के अन्य होने पर, अनुपलब्धि-कारणोपपत्तेः=अनुपलब्ध कारण की उपपत्ति से, प्रयत्नाऽहेतु-त्वम्=प्रयत्न का हेतुत्व नहीं होता।

व्याख्या—प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण शब्द कार्य है। जहाँ अभिव्यक्ति होती है, वहाँ आवरण उपलब्धि का कारण नहीं होता। परन्तु, उत्पत्ति में आवरण का अभाव होता है। शब्द का कहीं आवरण न होने से उसकी उत्पत्ति होती है। इसलिये कार्यसम प्रतिषेध अनैकान्तिक है। इस पर शंका करते हैं—

प्रतिषेधेऽपि समानोदोषः ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेधे=प्रतिषेध में, अपि=भी, समानोदोषः =समान दोष है।

व्याख्या—यदि अनैकान्तिक होने से कार्यसम नहीं होता तो उसका खण्डन भी अनैकान्तिक होने से प्रामाणिक नहीं हो सकता। शब्द को अनित्य कह कर प्रयत्न से उसकी उत्पत्ति मानी है, अभिव्यक्ति नहीं। इससे दोनों में ही समान दोष है।

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—सर्वत्रः=सर्वत्र, एवम्=ऐसा ही है।

व्याख्या—कार्यसम में जो अनैकान्तिक दोष बताया है, वह उप-युक्त नहीं। परन्तु, साधर्म्य आदि जो चौबीस जाति भेद कहे हैं, उनमें प्रसक्ति होती है। इसलिये सब प्रामाणिक हैं।

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेधविप्रतिषेधे=प्रतिषेध के विप्रतिषेध में, प्रतिषेध-दोषवत्=प्रतिषेध के समान, दोषः=दोष हैं।

व्याख्या—प्रतिषेधों में अनैकान्तिक दोषों के समान ही, प्रतिषेधों के खण्डन में भी इस दोष का प्रसंग है। जैसे प्रथम पक्ष 'कार्य होने से शब्द अनित्य है' दूसरा पक्ष-कार्य के विभिन्न प्रकार का होने से कार्यसम दोष है' तीसरा पक्ष—'दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष समान रूप से है' और चौथा पक्ष है—'खण्डन का खण्डन करने में भी समान दोष है।' अब पाँचवाँ पक्ष कहते हैं—

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधेसमानो दोष प्रसङ्गोमतानुज्ञा ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेधम्=प्रतिषेध को, सदोषमभ्युपेत्य=दोष-युक्त मान कर, प्रतिषेधविप्रतिषेधे=प्रतिषेध और विप्रतिषेध, समानो=समान, दोषः=दोष का, प्रसङ्गोमतानुज्ञा=प्रसंग 'मतानुज्ञा' कहा जाता है।

व्याख्या—द्वितीय पक्ष को दोष युक्त मान कर तीसरे पक्ष अर्थात् खण्डन के खण्डन में भी दोष देना 'मतानुज्ञा' है। अब अन्तिम सूत्र में उपसंहार करते हैं—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्द्देशे परपक्ष दोषाभ्युपगमात्समानोदोष इति ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—स्वपक्षलक्षणापेक्षः=अपने पक्ष में दोष के लक्षण की अपेक्षा से, हेतु निर्द्देशे=हेतु के निर्द्देश में, परपक्षदोषाभ्युपगमात्=पर पक्ष में दोष के मानने से अथवा, उपपत्त्युपसंहारे =उपपत्ति के उपसंहार से, दोष देखने में, समागोदोषः=समान दोष होता है।

व्याख्या—अपने पक्ष को सिद्ध किये बिना, प्रतिवादी के आक्षेप का भी खण्डन नहीं बनता। इसलिये जिस किसी के पक्ष पर आक्षेप हो, उसे अपने पक्ष को निर्दोष सिद्ध करना चाहिये। जो अपने पक्ष को सिद्ध

किये बिना, दूसरे का खण्डन करता है, उसे मतानुज्ञा निग्रह स्थान कहते हैं।

पंचमाध्यायः प्रथमाह्निक समाप्तम्

पंचमोऽध्यायः—द्वितीयमाह्निकम्

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञा-संन्यासोहेत्वन्तरमर्थान्तरंनिरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकम-प्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपोमतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगो-ऽपसिद्धान्तोहेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥१॥

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञा संन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्त काल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास यह बाईस निग्रहस्थान हैं। इनमें से पहले प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहते हैं—

व्याख्या—निग्रह-स्थान विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प से उत्पन्न होते है और उनमें पड़कर वाद-विवाद करने वाले को परास्त हो जाना पड़ता है। अतः न्याय सिद्धान्त के अनुसार निर्णय करने के लिये उसकी जानकारी भी आवश्यक है।

प्रतिदृष्टान्त धर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥२॥

सूत्रार्थ—प्रतिदृष्टान्त धर्माभ्यनुज्ञा=दूसरे पक्ष के धर्म को मानना, स्वदृष्टान्ते=अपने पक्ष में, प्रतिज्ञाहानिः=प्रतिज्ञा हानि है।

व्याख्या—अपने पक्ष को सिद्ध न कर, उसका त्याग करके दूसरे पक्ष के दृष्टान्त को स्वीकार कर लेने को प्रतिज्ञा-हानि कहते हैं। अगले सूत्र में प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहते हैं—

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्द्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञातार्थ प्रतिषेधे:=प्रतिज्ञात अर्थ के निषेध पर, धर्म विकल्पात्=धर्म के विकल्प से, तदर्थनिर्द्देशः=उसके अर्थ के निर्द्देश को, प्रतिज्ञान्तरम्=प्रतिज्ञान्तर कहते हैं।

व्याख्या—अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होने पर, उसको सिद्ध न करते हुए किसी अन्य प्रतिज्ञा को कर बैठना प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान कहा जाता है। जैसे पहिले कहा कि शब्द अनित्य है, परन्तु शब्द का अनित्यत्व सिद्ध न कर सके और कह बैठे कि शब्द सर्वगतिवान् नहीं है तो इस प्रकार प्रतिज्ञा को बदलना प्रतिज्ञान्तर हुआ।

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः=प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को, प्रतिज्ञाविरोधः=प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान कहते हैं।

व्याख्या—प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध से प्रतिज्ञा विरोध होता है। जैसे कहा कि 'द्रव्य गुण से भिन्न है,' यह प्रतिज्ञा हुई, फिर कहा कि 'रूप आदि के सिवाय और किसी वस्तु के न मिलने से, यह हेतु दिया।' इसमें प्रतिज्ञा और हेतु दोनों परस्पर विरोधी हैं। यदि गुण द्रव्य से भिन्न है तो रूप आदि के सिवाय कोई वस्तु न मिलना ठीक नहीं। यदि रूप आदि से भिन्न अर्थ न मिले तो द्रव्य गुण से भिन्न होता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है।

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थाऽपनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५॥

सूत्रार्थ—पक्षप्रतिषेधे...पक्ष का निषेध होने पर, प्रतिज्ञा-

तार्थ=प्रतिज्ञा के अर्थ को, अपनयनम्...छोड़ देना, प्रतिज्ञा-संन्यासः—प्रतिज्ञासंन्यास कहा जाता है।

व्याख्या—जो प्रतिज्ञा की उसका खण्डन हो गया तो उसे छोड़ दिया, इसे प्रतिज्ञासंन्यास कहते हैं। जैसे किसी ने इन्द्रिय का विषय होने से शब्द का अनित्य होना कहा, इस पर आक्षेप हुआ कि जाति तो नित्य है, इन्द्रिय का विषय वह भी है। इस आक्षेप को देखकर वादी अपनी प्रतिज्ञा से हट कर कहने लगे कि 'शब्द को अनित्य कौन बताता है ?' बस यही प्रतिज्ञासंन्यास है।

अविशेषोक्त हेतो प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छितो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—अविशेषोक्त=अविशेष रूप से कहे हुए, हेतो=हेतु के, प्रतिषिद्धेः=निषेध पर, विशेषमिच्छितो=विशेष की इच्छा हो, वह, हेत्वन्तरम्=हेत्वन्तर है।

व्याख्या—अपने पहले हेतु को छोड़कर दूसरे हेतु की शरण लेना हेत्वन्तर है।

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—प्रकृतात्=प्रकृति के, अर्थात्=अर्थ से, प्रतिसम्बद्धार्थम्=सम्बन्ध न रखने वाले को, अर्थान्तरम् = अर्थान्तर कहते।

व्याख्या—कोई कहे कि 'शब्द नित्य नहीं है, उत्पन्न होने से' फिर कहे कि 'शब्द गुण है आकाश का'। यह प्राकृतिक अर्थ से असम्बद्ध होने के कारण अर्थान्तर निग्रहस्थान हुआ।

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—वर्णक्रमनिर्देशवत्=जो केवल वर्ण क्रम निर्देश करने के समान है वह, निरर्थकम्=निरर्थक है।

व्याख्या—जिन शब्दों का कोई अर्थ न निकले, उनको कहना निरर्थक निग्रहस्थान है।

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—परिषत्प्रतिवादिभ्याम्=परिषद् और प्रतिवादी से, त्रिरभिहितम्=जो अभिप्राय तीन बार कहने पर अपि=भी, अविज्ञातम्=न जाना जा सके उसे, अविज्ञार्थम्=अविज्ञातार्थ कहते हैं।

व्याख्या—वादी के शब्दों का तात्पर्य किसी की समझ में न आवे, तथा सभा और प्रतिवादी के तीन बार स्पष्ट करने को कहने पर भी स्पष्ट न कर सके तो यह समझा जायगा कि वादी स्वयं उन शब्दों का अर्थ नहीं जानता। इसे अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान कहते हैं।

पौर्वापर्यायोगादऽप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—पौर्वापर्य–अयोगात्=पूर्वापर के सम्बन्ध बिना, अप्रतिसम्बद्धार्थम्=असम्बद्ध अर्थ वाले वाक्य को, अपार्थकम्=अपार्थक कहते है।

व्याख्या—जो असम्बद्ध अर्थ वाले और बिना पूर्वापर प्रसङ्ग वाले वाक्य हैं, वे अपार्थक कहे जाते हैं।

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥११॥

सूत्रार्थ—अवयवविपर्यासवचनम्=अवयव के विपरीत कहने को, अप्राप्तकालम्=अप्राप्त काल कहते हैं।

व्याख्या—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन यह पाँच अवयव कहे जाचुके हैं। इनके क्रमपूर्वक कहने का ही नियम है। परन्तु क्रमपूर्वक न कहकर उलट-पुलट कर कहना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है।

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ।। १२ ।।

सूत्रार्थ—हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन=किसी एक अवयव से हीन को, न्यूनम्=न्यून कहते है।

व्याख्या—प्रतिज्ञा, हेतु आदि जो पाँच अवयव हैं, उनमें से किसी एक अवयव को छोड़ देना अर्थात् सबसे अवसर पर काम न लेने को न्यून निग्रहस्थान कहते हैं।

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—हेतूदाहरणाधिकम्=हेतु और उदाहरण की अधिकता होने से, अधिकम्=अधिक कहते हैं।

व्याख्या—यदि एक हेतु और उदाहरण से काम चल जाय तो अधिक का प्रयोग न करे। क्योंकि, हेतु और उदाहरण अधिक हों, तो उसें 'अधिक' निग्रहस्थान कहते हैं।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।।१४।।

सूत्रार्थ—अन्यत्रानुवादात्=अन्यत्र अनुवाद से, शब्दार्थयो:=शब्द और अर्थ के, पुनर्वचनम्=पुनर्वचन को, पुनरुक्तम्=पुनरुक्त कहते हैं।

व्याख्या—अनुवाद को छोड़कर शब्द और अर्थ को दुबारा कहना पुनरुक्त है। अनुवाद उसे कहते हैं जो एक बात किसी प्रयोजन से दो बार कही जावे। परन्तु, अनुवाद के अतिरिक्त दो बार कहना पुनरुक्त है।

अनुवादेत्वपुनरुक्तं शब्दाऽभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ।।१५।।

सूत्रार्थ—शब्दाऽभ्यासात्=शब्दाभ्यास से, अर्थविशेषोपपत्ते=अर्थ विशेष की उपपत्ति से, अनुवादेत्वपुनरुक्तम्=अनुवाद में पुनरुक्त नहीं होता।

व्याख्या—अनुवाद में तो अर्थ विशेष को प्रकट करने के लिये बात को दुहराना होता ही है, क्योंकि इसके बिना अनुवाद की यथार्थता नहीं बनती।

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—अर्थादापन्नस्य=अर्थापत्ति से सिद्ध हुए का, स्वशब्देन=अपने शब्द से, पुनर्वचनम्=पुनर्बार कहना पुनरुक्त है।

व्याख्या—जिन वाक्य से एक अर्थ का बोध हो जाय, उसी अर्थ को फिर कहना पुनरुक्त हैं।

विज्ञातस्य परिषदात्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—विज्ञातस्य=जाने हुए अर्थ का, परिषदात्रिरभिहित=सभा द्वारा तीन बार कहे जाने पर, अपि=भी, अनुच्चारणम्=उच्चारण न करना, अननुभाषणम्=अननुभाषण है।

व्याख्या—यदि अर्थ सूचक शब्द का उच्चारण ही न करेगा तो बाद में अन्य पक्ष का खण्डन कैसे होगा? इसी लिये तीन बार सभा के कहने पर भी जो उच्चारण न करे, उसे 'अननुभाषण' कहा जाता है।

अविज्ञातञ्चाऽज्ञानम् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—अविज्ञातत्=कहे हुए शब्द को न समझना, च=ही, अज्ञानम्=अज्ञान निग्रह स्थान है।

व्याख्या—प्रतिवादी तीन बार किसी अर्थ को कहे तो भी वादी की समझ में न आवे, तो उसे 'अज्ञान' निग्रह स्थान कहा जाता है।

उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—उत्तरस्या=उत्तार की, अप्रतिपत्तिः=सूझ न होना, अप्रतिभा=अप्रतिभा निग्रहस्थान है।

व्याख्या—प्रतिपक्षी के आक्षेप का उत्तर न सूझ पड़े और वादी मौन रह जाय अथवा भय, प्रमाद, विस्मृति या संकोचवश उत्तर न दे तो यह सब अप्रतिभा निग्रह स्थान कहा जाता है।

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदोविक्षेपः ।।२०।।

सूत्रार्थ—कार्यव्यासंगात्=कार्य को फैलाकर, कथा-विच्छेदः =कथा का विच्छेद करना, विक्षेपः=विक्षेप कहा जाता है।

व्याख्या—किसी कार्य के बहाने से विवाद को टाल देना जैसे 'मुझे अमुक कार्य है, उसको करने पर फिर बात करूँगा' इस प्रकार से वाद को बन्द करना 'विक्षेप' नामक निग्रह स्थान कहा जायगा।

स्वपक्षदोषाऽभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसंगो-मतानुज्ञा ।। २१ ।।

सूत्रार्थ—स्वपक्षदोषाऽभ्युपगमात्=अपने पक्ष में दोष को न मिटा कर, परपक्षदोषप्रसंगः=पर पक्ष में दोष का प्रसंग,मतानुज्ञा=मतानुज्ञा निग्रहस्थान है।

व्याख्या— अपने पक्ष में जो दोष लगा है, उसका समाधान किये बिना, दूसरे पक्ष में उसी प्रकार के दोष का आरोपण करना 'मतानुज्ञा' है। पर-पक्ष पर दोष लगाने से, अपना दोष नहीं मिट सकता।

निग्रहस्थानप्राप्तस्याऽनिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् ।।२२।।

सूत्रार्थ—निग्रहस्थानप्राप्तस्य=निग्रह स्थान प्राप्त हुए का,अनिग्रहः=निग्रह न करना,पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम्=पर्यनुयोज्योपेक्षण कहा जाता है।

व्याख्या—जो किसी निग्रहस्थान में पड़ गया, उसको यह न बतलाना कि निग्रह स्थान में पड़ गये हो, 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' है। क्योंकि, निगृहीत तो अपनी निर्बलता को कहेगा नहीं और प्रतिवादी भी उसे न टोके तो वह अपने पक्ष का ही अनुमोदन करता जायगा।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।। २३ ।।

सूत्रार्थ—अनिग्रहस्थाने=निग्रह स्थान न होने पर, निग्रह-

स्थानाभियोगो = निग्रह स्थान होने का अभियोग लगाना, निरनु-योज्यानुयोगः = निरनुयोज्यानुयोग निग्रह स्थान है।

व्याख्या—वादी के निग्रहस्थान में न पड़ने पर भी प्रतिवादी उसे निग्रहस्थान में पड़ा हुआ कह दे तो यह भी उचित नहीं माना जाता।

सिद्धान्तमभ्युपेत्याऽनियमात्कथाप्रसंगो-ऽपसिद्धान्तः ।। २४ ।।

सूत्रार्थ–सिद्धान्तमभ्युपेत्याऽनियमात् = सिद्धान्त को स्वीकार कर अनियम से, कथा प्रसंगः = कथा प्रसंग करना, अपसिद्धान्तः = 'अपसिद्धान्त' निग्रह स्थान है।

व्याख्या—किसी सिद्धान्त को मान कर, अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये, उसी सिद्धान्त के विरुद्ध कहना, 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान है। वाद में इसे भी उचित नहीं मानते। क्योंकि, इससे अपने पक्ष की निर्बलता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ।। २५ ।।

सूत्रार्थ—यथोक्ताः = यथोक्त, हेत्वाभासः = हेत्वाभाव, च = भी निग्रहस्थान ही है।

व्याख्या—पाँच प्रकार के हेत्वाभास होते हैं, यह पहले कह चुके हैं—यह पाँचों हेत्वाभास भी निग्रहस्थानों में सम्मिलित हैं। छब्बीस प्रकार के निग्रहस्थानों में इन पाँचों को एक माना गया है। इनके लक्षण प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक में कहे जा चुके हैं, इसलिये पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है।

।। पञ्चमाध्यायः द्वितीयमाह्निक सम्पूर्णम् ।

।। न्याय-दर्शन सम्पूर्णम् ।।